विवेक-ज्योति

वर्ष ४२ अंक ३ मार्च २००४ मूल्य रु. ६.००
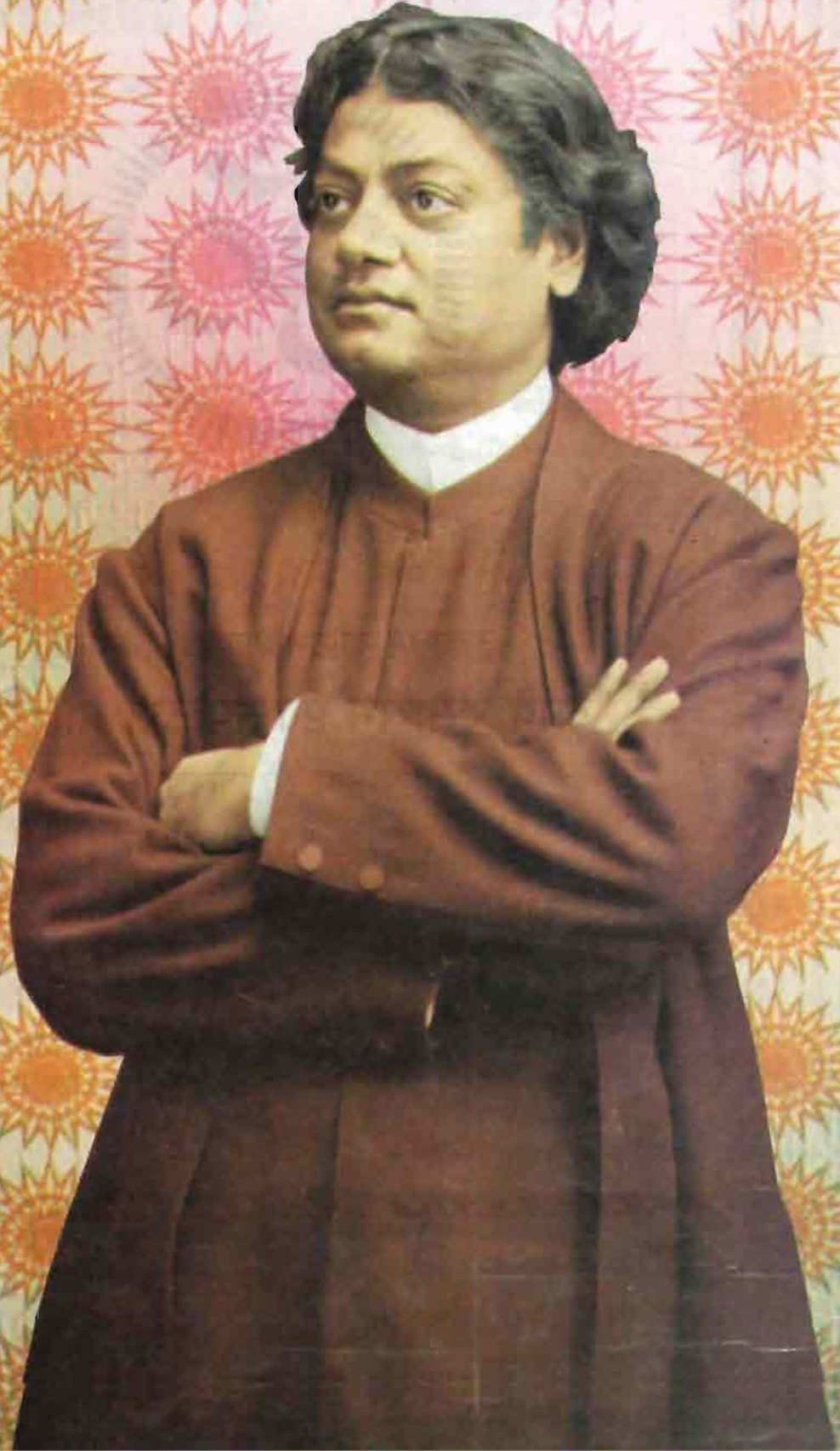
रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर (छ.ग.)

उच्चतम कीटनाशक के निर्माता

कृषि रसायन एक्सपोर्ट्स प्रा. लि.

एफ एम सी फोरचूना

ब्लॉक ए-११, चतुर्थ तल

२३४/३ए, आचार्य जगदीश चन्द्र बोस रोड

कलकत्ता – ७०० ०२०

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

मार्च २००४

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४२
अंक ३

वार्षिक ५०/-   एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए — रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) — रु. १,०००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर
(हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

रामकृष्ण मिशन
विवेकानन्द आश्रम
रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष : २२२५२६९, ५०३६९५९, २२२४११९

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

श्रीरामकृष्ण के दृष्टान्त – १७

रेखांकन – स्वामी आप्तानन्द

''आद्याशक्ति और परब्रह्म दोनों अभेद हैं। एक को छोड़ दूसरे का चिन्तन नहीं किया जा सकता । जैसे ज्योति और मणि । मणि को छोड़ मणि की ज्योति के बारे में सोचा नहीं जा सकता और न ज्योति को अलग करके मणि के बारे में ही सोचा जा सकता है । जैसे सर्प और उसकी वक्रगति। न सर्प को छोड़ उसकी तिर्यग्-गति सोची जा सकती है और न तिर्यग्-गति को छोड़ सर्प को ।

''परन्तु ब्रह्म और शक्ति अभिन्न हैं । लंका से लौटने के बाद हनुमान ने राम की स्तुति की थी । कहा था, 'हे राम, तुम्हीं परब्रह्म हो और सीता तुम्हारी शक्ति हैं । परन्तु तुम दोनों अभिन्न हो, जिस प्रकार सर्प और उसकी टेढ़ी गति, – साँप जैसी गति को सोचना हो तो साँप को सोचना होगा, और साँप को सोचने पर साँप की गति को भी सोचना पड़ता है । दूध का विचार करने पर दूध के रंग का – धवलत्व का विचार करना पड़ता है, और दूध की तरह सफेद अर्थात् धवलत्व को सोचने पर दूध का स्मरण करना पड़ता है । जल की शीतलता का चिन्तन करते ही जल का स्मरण आता है और फिर जल के चिन्तन के साथ ही, जल की शीतलता का भी चिन्तन करना पड़ता है ।''

नीति-शतकम्

अप्रियवचनदरिद्रैः प्रियवचनाढ्यैः स्वदारपरितुष्टैः ।
परपरिवादनिवृत्तैः क्वचित्क्वचिन्मण्डिता वसुधा ।।१०४ ।।

अन्वयः - अप्रियवचनदरिद्रैः प्रियवचनाढ्यैः स्वदारपरितुष्टैः, परपरिवादनिवृत्तैः वसुधा क्वचित्-क्वचित्-मण्डिता ।

भावार्थ – पृथ्वी केवल कहीं कहीं ऐसे नर-रत्नों से विभूषित है, जिनके पास कठोर वचनों का अभाव है, जो मधुर-वाणी के धनी हैं, जो अपनी पत्नी में ही सन्तुष्ट रहते हैं और जो परनिन्दा से विमुख रहते हैं।

कदर्थितस्यापि हि धैर्यवृतेर्न शक्यते धैर्यगुणः प्रमार्ष्टुम् ।
अधोमुखस्यापि कृतस्य वह्नेर्नाधः शिखा याति कदाचिदेव ।।१०५।।

अन्वयः - कदर्थितस्य अपि धैर्यवृतेः धैर्यगुणः, हि प्रमार्ष्टुम् न शक्यते, अधोमुखस्य कृतस्य अपि वह्नेः शिखा कदाचित् एव अधः न याति ।

भावार्थ – जैसे आग को नीचे की ओर उलट देने पर भी उसकी लपटें नीचे नहीं जाती, वैसे ही हीन दशा में भी पड़े हुए धीर व्यक्ति के धैर्य को मिटाया नहीं जा सकता।

कान्ताकटाक्षविशिखा न लुनन्ति यस्य
चित्तं न निर्दहति कोपकृशानुतापः ।
कर्षन्ति भूरिविषयाश्च न लोभपाशै-
र्लोकत्रयं जयति कृत्स्नमिदं स धीरः ।।१०६।।

अन्वयः - यस्य चित्तं कान्ताकटाक्षविशिखा न लुनन्ति, कोपकृशानुतापः न निर्दहति, भूरिविषयाः लोभपाशैः च न कर्षन्ति, स धीरः इदं कृत्स्नं लोकत्रयं जयति ।

भावार्थ – वह धीर पुरुष तीनों लोकों पर पूरी तौर से विजय पा लेता है, जिसे कामिनियों के कटाक्ष-रूपी बाण वेध नहीं सकते, जिसे क्रोधाग्नि दग्ध नहीं कर सकती और जिसे सारे भोग्य विषय अपने लोभपाश में बाँधकर खींच नहीं सकते।

– भर्तृहरि

भजन-गीति

– १ –

(गज़ल-कहरवा)

हमारी है यही विनती, प्रभो, सब पर कृपा करना।
सभी में दोष-त्रुटियाँ हैं, सभी को तुम क्षमा करना ।।

किसी का मन नहीं वश में, सभी लाचार हैं जग में,
लगा तुम ही स्वचरणों में, सभी के ताप-दुख हरना ।।

कोई भूखा न रह जाए, कहीं कोई न दुख पाए,
अभावों को मिटाकर तुम, सभी के प्राण-मन भरना ।।

सभी प्राणी अभय होवें, सभी सुख-चैन से सोवें,
सभी को आत्म-दर्शन दे, बहाओ शान्ति का झरना ।।

– २ –

(मालकौंस-कहरवा)

दिल में है अनमोल खजाना ।
उसका ही सन्धान करो नर,
विषमय विषयों में न लुभाना ।।

मायारूपी मछुआरिन ने,
सूक्ष्म जाल फैलाया जग में,
काम-दाम का चारा खाकर,
पड़े न जीवन भर पछताना ।।

खोजो अपने ही अन्तर में,
सारा माल पड़ा है घर में,
परम रत्न पाया उसने ही,
जिसने निज स्वरूप पहचाना ।।

भटके बहुत घोर जंगल में,
चित्त न लगाया निज मंगल में,
दुनिया के प्रपंच सब तजकर,
अब 'विदेह' अपने घर जाना ।।

– *विदेह*

भक्ति और ईश्वर-प्रेम

स्वामी विवेकानन्द

सच्चे और निष्कपट भाव से ईश्वर की खोज को भक्तियोग कहते हैं। इस खोज का आरम्भ, मध्य और अन्त प्रेम में होता है। ईश्वर के प्रति प्रेमोन्मत्तता का एक क्षण भी हमारे लिए शाश्वत मुक्ति देनेवाला होता है।

"भगवान के प्रति उत्कट प्रेम ही भक्ति है।" "जब मनुष्य इसे प्राप्त कर लेता है, तो सभी उसके प्रेम-पात्र बन जाते हैं। वह किसी से घृणा नहीं करता; वह सदा के लिए सन्तुष्ट हो जाता है।" "इस प्रेम से किसी काम्य वस्तु की प्राप्ति नहीं हो सकती," क्योंकि जब तक सांसारिक वासनाएँ घर किये रहती हैं, तब तक इस प्रेम का उदय नहीं होता।

"भक्ति कर्म से श्रेष्ठ है और योग से भी उच्च है, क्योंकि इन सबका एक न एक लक्ष्य है ही, पर भक्ति स्वयं ही अपना फल और साध्य तथा साधन-स्वरूप है।"

भक्तियोग का एक बड़ा लाभ यह है कि वह हमारे महान् दिव्य लक्ष्य की प्राप्ति का सबसे सरल और स्वाभाविक मार्ग है। पर साथ ही उससे एक विशेष आशंका यह है कि वह अपनी निम्न अवस्था में मनुष्य को बहुधा भयानक मतान्ध और कट्टर बना देता है। हिन्दू, इस्लाम या ईसाई धर्म में जहाँ कहीं इस प्रकार के धर्मान्ध व्यक्तियों का दल है, वह सदैव ऐसे ही निम्न श्रेणी के भक्तों द्वारा गठित हुआ है।

भक्ति के किसी पात्र के प्रति अनन्य निष्ठा, जिसके बिना यथार्थ प्रेम का विकास सम्भव नही, प्राय: अन्य सब पात्रों के प्रति दुर्भाव का कारण बन जाती है। प्रत्येक धर्म और देश के सभी दुर्बल और अविकसित बुद्धिवाले लोग अपने आदर्श से प्रेम करने का एक ही उपाय जानते हैं और वह है – अन्य सभी आदर्शों से घृणा करना। यहीं इस बात का उत्तर मिलता है कि वही मनुष्य, जो ईश्वर सम्बन्धी अपने आदर्श के प्रति इतना अनुरक्त है, किसी दूसरे आदर्श को देखते ही या उसके विषय में कुछ सुनते ही इतना खूँख्वार क्यों हो उठता है।

जिस व्यक्ति को जिस वस्तु की आवश्यकता होती है, उसे वही सबसे उपयोगी जान पड़ती है। अत: उन लोगों के लिए, जो खाने-पीने, वंश-वृद्धि करने और फिर मर जाने के सिवा और कुछ नहीं जानते, इन्द्रिय-सुख ही एकमात्र उपलब्ध करने योग्य वस्तु है! ऐसे लोगों के हृदय में उच्चतर विषय के लिए थोड़ी-सी भी स्पृहा जगने के लिए अनेक जन्म लग जायेंगे। पर जिनके लिए आत्मोन्नति के साधन ऐहिक जीवन के क्षणिक सुख-भोगों से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, जिनकी दृष्टि में इन्द्रियों की तुष्टि केवल एक नासमझ बच्चे के खिलवाड़ के समान है, उनके लिए भगवान और भगवत्प्रेम ही मानव-जीवन का सर्वोच्च एवं एकमात्र प्रयोजन है।

भक्ति तो तुम्हारे भीतर ही है – केवल उसके ऊपर काम-कांचन का एक आवरण-सा पड़ा हुआ है। उसको हटाते ही भीतर की वह भक्ति स्वयमेव प्रकट हो जायेगी।

भक्ति प्राप्त करने का एक उपाय है, ईश्वर का बारम्बार नाम-जप। मंत्रों का – केवल शब्दोच्चारण का प्रभाव होता है।

भक्ति प्राप्त करने के लिए ऐसे पवित्र मनुष्यों की संगति खोजो, जिनमें भक्ति हो और गीता तथा 'ईसानुसरण' जैसी पुस्तकें पढ़ो। सदैव ईश्वर के गुणों के विषय में विचार करो।

ईश्वर के बारे में विभिन्न मत-मतान्तरों पर चर्चा करने मात्र से काम नहीं चलेगा। ईश्वर से प्रेम करना होगा, साधना करनी होगी। विशेषत: तभी संसार और सांसारिक विषयों का त्याग करो, जब 'पौधा' सुकुमार होता है। दिन-रात ईश्वर का चिन्तन करो; यथासम्भव दूसरे विषयों का चिन्तन छोड़ दो। सभी आवश्यक दैनन्दिन विचारों का चिन्तन ईश्वर के माध्यम से किया जा सकता है। ईश्वर को अर्पित करके खाओ, उनको अर्पित करके पिओ, उनको अर्पित करके सोओ, सबमें उन्हीं को देखो। दूसरों से उनकी चर्चा करो, यह सबसे अधिक उपयोगी है।

भगवान अथवा उनकी योग्यतम सन्तान – महापुरुषों की कृपा प्राप्त कर लो। ये ही दो भगवत्प्राप्ति के प्रधान उपाय हैं। ऐसे महापुरुषों का संग पाना बड़ा कठिन है, पाँच मिनट भी उनका ठीक ठीक संग-लाभ हो जाय, तो सारा जीवन ही बदल जाता है। यदि तुम सचमुच ही इन महापुरुषों की संगति के इच्छुक हो, तो तुम्हें किसी-न-किसी महापुरुष का संग-लाभ अवश्य होगा। ये भक्त, ये महापुरुष जहाँ रहते हैं, वह स्थान पवित्र हो जाता है, 'प्रभु की सन्तानों का ऐसा ही माहात्म्य है।' वे स्वयं प्रभु हैं, वे जो कहते हैं वही शास्त्र हो जाता है। ऐसा है उनका माहात्म्य! वे जिस स्थान पर निवास करते हैं, वह उनके देह-नि:सृत पवित्र शक्ति-स्पन्दन से परिपूर्ण हो जाता है; जो कोई उस स्थान पर जाता है, वही उस स्पन्दन का अनुभव करता है और इसी कारण उसके भीतर भी पवित्र बनने की प्रवृत्ति जग उठती है।
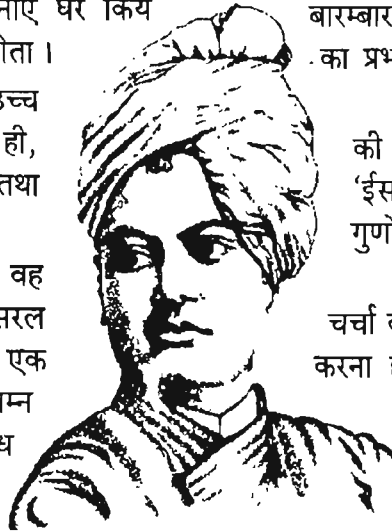
भक्तियोग कुछ छोड़ने-छाड़ने की शिक्षा नहीं देता; वह केवल कहता है – "परमेश्वर में आसक्त होओ।" और जो परमेश्वर के प्रेम में उन्मत्त हो गया है, उसकी, स्वभावतः निम्न विषयों में कोई प्रवृत्ति नहीं रह सकती।

भक्तियोग में प्रथम विशेष प्रयोजन है, निष्कपट और प्रबल भाव से ईश्वर को चाहना। हम ईश्वर को छोड़कर और सभी कुछ चाहते हैं; क्योंकि बहिर्जगत् से हमारी सभी वासनाएँ पूर्ण होती हैं। जब तक हमारी आवश्यकताएँ जड़ जगत् के भीतर ही सीमाबद्ध हैं, तब तक हम ईश्वर के अभाव का बोध नहीं कर पाते; किन्तु जब हम पर इस जीवन में चारों ओर से प्रबल आघात पड़ते हैं और इस जगत् के सभी विषयों से जब हम निराश हो जाते हैं, तभी हमें किसी उच्चतर वस्तु की जरूरत का बोध होता है, तभी हम ईश्वर का अन्वेषण करते हैं।

भक्ति विध्वंसात्मक नहीं है, वरन् भक्तियोग की शिक्षा यह है कि हमारी सभी क्षमताएँ मुक्ति-लाभ करने का उपाय-स्वरूप हो सकती हैं। इन सभी वृत्तियों को ईश्वराभिमुख करना होगा – साधारणतः जो प्रेम अनित्य इन्द्रिय-विषयों में नष्ट किया जाता है, वही ईश्वर को समर्पित करना होगा।

पाश्चात्य धर्म की धारणा से भक्ति में अन्तर इतना ही है कि भक्ति में भय का कोई स्थान नहीं है – भक्ति के द्वारा किसी पुरुष का क्रोध शान्त करने या किसी को सन्तुष्ट करने की आवश्यकता नहीं होती। इतना ही नहीं, ऐसे भी भक्त हैं, जो ईश्वर की उपासना पुत्र-भाव से करते हैं – इस प्रकार की उपासना का उद्देश्य यही है कि ऐसी उपासना में भय या भयमिश्रित भक्ति का कोई भाव नहीं रहता। प्रकृत प्रेम में भय नहीं रह सकता। जब तक थोड़ा-सा भी भय रहेगा, तब तक भक्ति का आरम्भ ही नहीं हो सकता और भक्ति में भगवान से भिक्षा माँगने का भाव अथवा उनके साथ क्रय-विक्रय करने का भाव नहीं रहता। भगवान के पास किसी वस्तु के लिए प्रार्थना भक्त की दृष्टि में महान् अपराध है। भक्त कभी भी भगवान से आरोग्य या ऐश्वर्य की कामना नहीं करता, इतना ही नहीं, वह स्वर्ग तक की कामना नहीं करता।

प्रेम-धर्म में द्वैत-भाव से शुरू करना पड़ता है। उस समय हमारे लिए भगवान हमसे भिन्न रहते हैं और हम भी अपने को उनसे भिन्न समझते हैं। फिर प्रेम बीच में आ जाता है। तब व्यक्ति भगवान की ओर अग्रसर होने लगता है और भगवान भी क्रमशः व्यक्ति के अधिकाधिक पास आने लगते हैं। मनुष्य माता, पिता, पुत्र, सखा, प्रेमी आदि संसार के सारे भाव लेता है और अपने प्रेम के आदर्श प्रभु में उन सबको आरोपित करता जाता है। उसके लिए भगवान इन सब रूपों में विराजमान हैं और उसकी उन्नति की चरम अवस्था तो वह है, जिसमें वह अपने उपास्य देवता में ही पूर्णतः निमग्न हो जाता है।

हम सबका पहले अपने प्रति प्रेम रहता है और इस क्षुद्र अहं-भाव का असंगत दावा प्रेम को भी स्वार्थपर बना देता है। पर अन्त में ज्ञान-ज्योति का पूर्ण प्रकाश आता है, जिसमें यह क्षुद्र अहं उस अनन्त के साथ एक हो जाता है। इस प्रेमालोक में व्यक्ति स्वयं पूर्णतः परिवर्तित हो जाता है और अन्त में इस सुन्दर और प्राणों को उन्मत्त बना देनेवाले सत्य का अनुभव करता है कि प्रेम, प्रेमी और प्रेमास्पद तीनों एक ही हैं।

'भक्ति' स्वाभाविक सुखद पथ है। और 'ज्ञान' एक प्रबल वेगवती पर्वतीय नदी को बलपूर्वक ठेलकर उसके उद्गम-स्थान की ओर ले जाने के सदृश है। वह द्रुततर है, किन्तु विशेष कठिन भी है। ज्ञान कहता है, 'सारी प्रवृत्तियों का निरोध करो।' भक्तिमार्ग कहता है, 'सब कुछ धारा में बहा दो, सदा के लिए पूर्ण आत्मसमर्पण कर दो।' यह मार्ग लम्बा तो है, किन्तु अपेक्षाकृत सरल और सुखकर है।

यदि मनुष्य को स्थायी भक्ति प्राप्त करनी है तो उसे द्वेष-बुद्धि छोड़नी ही होगी। द्वेष, भक्ति-पथ में बड़ा बाधक है – जो मनुष्य उसे छोड़ सकेगा, वही ईश्वर को पा सकेगा।

यदि किसी व्यक्ति को एक दिन भोजन न मिले तो उसे महाकष्ट होगा। सन्तान की मृत्यु होने पर उसको कैसी पीड़ा होती है! जो भगवान के सच्चे भक्त हैं, भगवान के विरह में उनके भी प्राण इसी प्रकार छटपटाते हैं। भक्ति में यह बड़ा गुण है कि उसके द्वारा चित्त शुद्ध हो जाता है और परमेश्वर के प्रति दृढ़ भक्ति होने से केवल उसी से चित्त शुद्ध हो जाता है।

सब प्रकार के वैराग्यों में भक्तियोगी का वैराग्य सर्वाधिक स्वाभाविक है। उसमें न कोई कठोरता है, न कुछ छोड़ना पड़ता है, न हमें अपने आपसे कोई चीज छीननी पड़ती है, और न बलपूर्वक किसी चीज से हमें अपने आपको अलग ही करना पड़ता है। भक्त का त्याग तो अत्यन्त सहज और हमारे आसपास की वस्तुओं की तरह स्वाभाविक होता है। इस प्रकार का त्याग, बहुत कुछ विकृत रूप में, हम प्रतिदिन अपने चारों ओर देखते हैं।

भक्त कहता है, "इस क्षणभंगुर संसार में, जहाँ प्रत्येक वस्तु टुकड़े टुकड़े हो धूल में मिली जा रही है, हमें अपने समय का सदुपयोग कर लेना चाहिए।" और वास्तव में **जीवन का सर्वश्रेष्ठ उपयोग यही है कि इसे सर्वभूतों की सेवा में लगा दिया जाय।**

हमारा सबसे बड़ा भ्रम यह है कि हमारा यह शरीर ही हम हैं और चाहे जैसे भी हो, हमें इसकी रक्षा करनी होगी, इसे सुखी रखना होगा। और यह भयानक देहात्म-बुद्धि ही संसार में सब प्रकार की स्वार्थपरता की जड़ है। यदि तुम यह निश्चित रूप से जान सको कि तुम शरीर से बिल्कुल पृथक् हो, तो फिर इस दुनिया में ऐसा कुछ भी नहीं रह जायेगा, जिसके साथ

तुम्हारा विरोध हो सके। तब तुम सब प्रकार की स्वार्थपरता के परे हो जाओगे। इसीलिए भक्त कहता है कि **हमें ऐसा रहना चाहिए, मानो हम दुनिया की सारी चीजों के लिए मर-से गये हों।** और वस्तुतः यही यथार्थ आत्मसमर्पण है – यही सच्ची शरणागति है – 'जो होने का है, हो।' यही 'तेरी इच्छा पूर्ण हो' का तात्पर्य है।

"प्रभो, लोग तुम्हारे नाम पर बड़े बड़े मन्दिर बनवाते हैं, बड़े बड़े दान देते हैं; पर मै तो निर्धन हूँ, मेरे पास कुछ भी नहीं है। अतः मैं अपने इस शरीर को ही तुम्हारे चरणों में अर्पित करता हूँ। मेरा परित्याग न करना, मेरे प्रभो!" जिसने एक बार इस अवस्था का आस्वादन कर लिया है, उसके लिए प्रेमास्पद भगवान के चरणों में यह चिर आत्म-समर्पण कुबेर के धन और इन्द्र के ऐश्वर्य से भी श्रेष्ठ है, नाम-यश और सुख-सम्पदा की महान् आकांक्षा से भी महत्तर है।

भक्त के शान्त आत्म-समर्पण से हृदय में जो शान्ति आती है, उसकी तुलना नहीं हो सकती, वह बुद्धि के लिए अगोचर है।

जब भक्त इस अवस्था में पहुँच जाता है, तब उसमें ये सब तर्क-वितर्क नहीं उठते कि भगवान को सिद्ध किया जा सकता है या नहीं; भगवान सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान हैं या नहीं। उसके लिए तो भगवान प्रेममय हैं – प्रेम के सर्वोच्च आदर्श हैं, और बस, यह जानना ही उसके लिए यथेष्ट है। भगवान प्रेमरूप होने के कारण स्वतःसिद्ध हैं, वह अन्य किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता। प्रेमी के पास प्रेमास्पद का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए किसी बात की जरूरत नहीं। अन्य धर्मों के न्यायकर्ता भगवान का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए बहुत-से प्रमाणों की जरूरत हो सकती है, पर भक्त तो ऐसे भगवान की बात मन में भी नहीं ला सकता। उसके लिए तो भगवान केवल प्रेमस्वरूप हैं।

पूर्णताप्राप्त भक्त अपने भगवान को मन्दिरों और गिरजों में खोजने नहीं जाता; उसके लिए तो ऐसा कोई स्थान ही नहीं, जहाँ वे न हों। वह उन्हें मन्दिर के भीतर-बाहर सर्वत्र देखता है। साधु की साधुता में और दुष्ट की दुष्टता में भी वह उनके दर्शन करता है; क्योंकि उसने तो उन महिमामय प्रभु को पहले से ही अपने हृदय-सिहासन पर बिठा लिया है और वह जानता है कि वह एक सर्व-शक्तिमान एवं अनिर्वाण प्रेम-ज्योति के रूप में उसके हृदय में नित्य दीप्तिमान और सदा से विराजमान हैं।

अन्त में भक्त इसी भाव पर आ पहुँचता है कि स्वयं प्रेम ही भगवान हैं। और बाकी सब कुछ असत् है। भगवान का अस्तित्व प्रमाणित करने के लिए मनुष्य को अब और कहाँ जाना होगा? इस प्रत्यक्ष संसार में जो भी पदार्थ हैं, सबके अन्दर सर्वापेक्षा स्पष्ट दिखायी देनेवाले तो भगवान ही हैं। वे ही वह शक्ति है, जो सूर्य-चन्द्र और तारों को घुमाती एवं चलाती है तथा स्त्री-पुरुषों में, सभी जीवों में, सभी वस्तुओं में प्रकाशित हो रही है। जड़ शक्ति के राज्य में, मध्याकर्षण शक्ति के रूप में वही विद्यमान है, प्रत्येक स्थान में, प्रत्येक परमाणु में वही वर्तमान है – सर्वत्र उसकी ज्योति छिटकी हुई है। वही अनन्त प्रेमस्वरूप है, संसार की एकमात्र संचालिनी शक्ति है, और वही सर्वत्र प्रत्यक्ष दिखायी दे रहा है।

"मैं जानता हूँ कि मैं ही वह हूँ, तो भी मैं उससे अपने को अलग रखूँगा, पृथक् रहूँगा, ताकि मैं उस प्रियतम में आनन्द ले सकूँ।" प्रेम के लिए प्रेम ही भक्त का सर्वोच्च सुख है।

मैं एक ऐसे महापुरुष को जानता हूँ, जिन्हें लोग पागल कहते थे। इस पर उनका उत्तर था, "भाइयो, सारा संसार ही तो एक पागलखाना है। कोई सांसारिक प्रेम के पीछे पागल है, कोई नाम के पीछे, कोई यश के लिए, तो कोई पैसे के लिए।

माया छाया राम की

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

प्रभु ने कुछ ऐसा किया, निज माया-विस्तार।
जिसमें मारा फिर रहा, मोह-मूढ़ संसार।।
माया ऐसी मोहिनी, जिसके रूप अनेक।
पाश-बद्ध वे नर सभी, जिनमें नहीं विवेक।।
मानव कर सकता सहज, सात सिन्धु को पार।
बिन विवेक सुस्तर नहीं, माया-पारावार।।
यथा चन्द्र की चन्द्रिका, यथा सूर्य की धूप।
मायापति प्रभु की तथा, माया छाया रूप।।
जन्म मरण की मूल है, माया मोह महान्।
वह माया को मारता, जिसे आत्म-पहचान।।
माया के वश में सभी, राजा हो या रंक।
जो मायापति में रमें, रहता वही अशंक।।
माया का मुख देख नर, होते मत्त मतंग।
यथा सगर्भा देखकर, होता अन्ध भुजंग।।
माया का मुख देखकर, माया-पति भी मौन।
माया-ठगिनी ने जिसे, ठगा नहीं, वह कौन?
बुझे न सुख की प्यास औ, शान्ति-सिन्धु हो भंग।
माया-वारि-तरंग में, मन हो रहा कुरंग।।
परमेश्वर के प्रेम-बिन, सब है धूल-समान।
मारा-मारा मन फिरे, जग को सच्चा मान।।
माया-छाया राम की, जान सके तो जान।
माया से मत मोह कर, होगा कष्ट महान्।।

फिर कोई ऐसे भी हैं, जो उद्धार पाने या स्वर्ग जाने के लिए पागल हैं। इस विराट् पागलखाने में मैं भी एक पागल हूँ – मैं भगवान के लिए पागल हूँ। तुम पैसे के लिए पागल हो और मैं भगवान के लिए। जैसे तुम पागल हो, वैसे ही मैं भी हूँ। फिर भी मैं सोचता हूँ कि मेरा ही पागलपन सबसे उत्तम है।'' सच्चे भक्त के प्रेम में इसी प्रकार की तीव्र उन्मत्तता रहती है और इसके सामने अन्य सब कुछ उड़ जाता है। उसके लिए तो यह सारा जगत् केवल प्रेम से भरा है – प्रेमी को बस ऐसा ही दिखता है। जब मनुष्य में यह प्रेम प्रवेश करता है, तो वह चिरकाल के लिए सुखी, चिरकाल के लिए मुक्त हो जाता है। और दैवी प्रेम की यह पवित्र उन्मत्तता ही हममें समायी हुई संसार-व्याधि को सदा के लिए दूर कर दे सकती है।

इस संसार में मनुष्य सदा स्त्रियों के पीछे, धन के पीछे, मान के पीछे दौड़ता फिरता है। कभी कभी उसे ऐसी जबरदस्त ठोकर लगती है कि उसकी आँख खुल जाती है और उसे ज्ञात हो जाता है कि यह संसार यथार्थ में क्या है। **इस संसार में कोई भी मनुष्य ईश्वर को छोड़ अन्य किसी वस्तु पर यथार्थ प्रेम नहीं कर सकता। व्यक्ति को पता लग जाता है कि मानव-प्रेम हर ओर से खोखला है। मनुष्य प्रेम नहीं कर सकता, वह केवल प्रेम की बातें ही करना जानता है।** पत्नी कहती है कि मैं पति से प्रेम करती हूँ और ऐसा कहकर वह अपने पति का चुम्बन करती है। पर ज्यों ही पति की मृत्यु हो जाती है, सबसे पहले उसका ध्यान अपने पति के जमा किये हुए बैंक के धन की ओर जाता है और वह सोचने लगती है कि कल मैं क्या क्या करूँगी। पति पत्नी से प्रेम करता है, पर जब पत्नी बीमार हो जाती है और उसका रूप नष्ट हो जाता है या उसे बुढ़ापा घेर लेता है अथवा पत्नी कोई भूल कर बैठती है, तब पति उस पत्नी की चिन्ता करना छोड़ देता है। संसार का सारा प्रेम कोरा ढोंग है, थोथा दिखावा है।

वास्तव में सच्चे प्रेम की प्रतिक्रिया दुखद तो होती ही नहीं। उससे तो केवल आनन्द ही होता है। और यदि उससे ऐसा न होता हो, तो समझ लेना चाहिए कि वह प्रेम नहीं है, बल्कि वह और ही कोई चीज है, जिसे हम भ्रमवश प्रेम कहते हैं। जब तुम अपने पति, अपनी स्त्री, अपने बच्चों, यहाँ तक कि समस्त विश्व को इस प्रकार प्रेम करने में सफल हो सको कि उससे किसी भी प्रकार दुख, ईर्ष्या अथवा स्वार्थपरता-रूप कोई प्रतिक्रिया न हो, केवल तभी तुम सम्यक् रूप से अनासक्त होने की अवस्था में पहुँच सकोगे।

प्रश्न – तो क्या गृहस्थों के लिए इस प्रेममार्ग से, ईश्वर को पति या प्रियतम मानकर, प्रियाभाव से आराधना कर, भगवत्प्राप्ति असम्भव है? **उत्तर** – कुछ अपवाद छोड़ साधारण गृहस्थों के लिए निस्सन्देह यह असम्भव है। और फिर इस कठिन मार्ग पर ही इतना बल क्यों? मधुर-भाव के अतिरिक्त उपासना के लिए क्या अन्य कोई भाव या सम्बन्ध नही हैं? अन्य चारों मार्गों को अपना कर, पूरे हृदय से ईश्वर का नाम लो। पहले हृदय के द्वार तो खुलने दो, फिर बाकी सब अपने आप ही आ जायेगा। लेकिन यह बात अच्छी तरह से समझ लो कि जब तक काम-वासना है, तब तक उस प्रेम का आविर्भाव नहीं होगा। पहले अपनी इन्द्रियासक्ति, भोगो की लालसा का ही त्याग क्यों न करो? तुम कहोगे – 'यह कैसे सम्भव है, मैं तो गृहस्थ हूँ।' फालतू बकवास है यह सब! गृहस्थ होने के माने यह तो नहीं है कि कोई मूर्तिमन्त वासना बन जाय या आजन्म वैवाहिक सुख का उपभोग करता रहे? और फिर मनुष्य के लिए यह कितना लज्जास्पद है कि मधुर-भाव की साधना करने के लिए वह स्वयं को स्त्री समझने लगे!

'पूर्णरूपेण निःस्वार्थ भाव, जिसमें प्रेम-पात्र के महत्त्व और उसकी आराधना के अतिरिक्त कोई दूसरा विचार नही आता।' प्रेम ऐसा गुण है, जो झुकता है, पूजा करता है और बदले में कुछ नहीं चाहता। ईश्वर का प्रेम भिन्न वस्तु हैं। ईश्वर को हम इसलिए नहीं मानते कि हमें सचमुच उनकी आवश्यकता है, बल्कि अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए ही हम उन्हें चाहते है।

मनुष्य तभी वास्तव में प्रेम करता है, जब वह देखता है कि उसके प्रेम का पात्र कोई क्षुद्र मर्त्य जीव नही है। मनुष्य तभी वास्तविक प्रेम कर सकता है, जब वह देखता है कि उसके प्रेम का पात्र एक मिट्टी का ढेला नहीं, अपितु स्वयं जीवन्त भगवान है। स्त्री पति से और अधिक प्रेम करेगी, यदि वह समझेगी कि पति साक्षात् ब्रह्म-स्वरूप है। पति भी स्त्री से अधिक प्रेम करेगा, यदि वह जानेगा कि स्त्री स्वयं ब्रह्म-स्वरूप है। वे माताएँ सन्तान से अधिक स्नेह कर सकेंगी, जो सन्तान को ब्रह्म-स्वरूप देखेंगी। वे ही लोग अपने महान् शत्रुओं के प्रति भी प्रेमभाव रख सकेंगे, जो जानेंगे कि ये शत्रु साक्षात् ब्रह्म-स्वरूप हैं। वे ही लोग पवित्र व्यक्तियों से प्रेम करेंगे, जो समझेंगे कि साधु व्यक्ति साक्षात् ब्रह्म-स्वरूप है। वे ही लोग अत्यन्त अपवित्र व्यक्तियों से भी प्रेम करेंगे जो यह जान लेगे कि इन महादुष्टों के भी पीछे वे ही प्रभु विराजमान हैं।

स्वार्थपूर्ण विचारों का अभाव ही ईश्वर-प्रेम का मूलभूत भाव है। धर्म आजकल मात्र मनोरंजन और फैशन-जैसा बन गया है। भेड़िया-धसान के समान लोग देवस्थानों में जाते हैं। ईश्वर को हम इसलिए नहीं मानते कि हमें अपने स्वार्थ के परे उसकी वास्तव में आवश्यकता है। स्वयं को धर्म-विश्वासी माननेवाले अधिकांश लोग अज्ञात रूप से नास्तिक है। ❑

धनुष-यज्ञ का तात्पर्य (३/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(आश्रम द्वारा जनवरी २००२ ई. में आयोजित विवेकानन्द-जयन्ती-समारोह के समय पण्डितजी ने 'धनुष-यज्ञ' पर ७ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख उसके तृतीय प्रवचन का पूर्वार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। – सं.)

धनुष-यज्ञ का जो शब्दचित्र गोस्वामी जी ने 'मानस' में प्रस्तुत किया है, उसमें आप देखते हैं कि जब सभी राजा धनुष तोड़ना तो दूर रहा, उसे उठाने में भी सक्षम नहीं होते, तब महाराज जनक अत्यन्त निराश हो जाते हैं और जनकपुरवासी स्त्री-पुरुषों के मन में भी एक निराशा व्याप्त होती दिखाई देती है। महाराज जनक अपनी उस भावना को रोक नहीं पाते और शब्दों में उसे व्यक्त करते हुए कह देते हैं – "आप सब पधारें। मुझे पता नहीं था कि आप सब में सामर्थ्य का इतना अभाव है!" उस समय लक्ष्मण जी खड़े होकर जब अपनी तेजस्वी और ओजपूर्ण वाणी में बोले, तो जनक जी को लगा कि लक्ष्मण जी उनकी भर्त्सना कर रहे हैं। उसके पश्चात् महर्षि विश्वामित्र श्रीराम से आग्रह करते हैं –

उठहु राम भंजहु भवचापा।
मेटहु तात जनक परितापा।। १/२५४/६

आदेश पाकर भगवान राम खड़े होते हैं और धनुष की ओर प्रस्थान करते हैं।

अब यह जो धनुष है, जिसे तोड़ देनेवाले को ही महाराज जनक ने अपनी कन्या अर्पित करने की प्रतिज्ञा की है, यह धनुष क्या है? उस धनुष का स्वरूप क्या है, जिसके टूटने को ही उन्होने योग्यता की परीक्षा का केन्द्र बना लिया?

पौराणिक काल में दो प्रसंगों में धनुर्भंग मिलता है। इन दोनों धनुर्भंगों के सम्बन्ध भगवान के दो पूर्णावतारों से जुड़े हुए हैं। भगवान के ये दोनों ही अवतार सर्वमान्य हैं, जिनके प्रति सर्वाधिक लोगों की निष्ठा तथा आराधना है और वे हैं भगवान राम और भगवान कृष्ण। भगवान राम के द्वारा भी धनुर्भंग होता है और भगवान कृष्ण के द्वारा भी। इस प्रकार इतिहास में इन दोनों अवतारों के द्वारा धनुर्भंग की दो गाथाएँ हैं। पर दोनों में एक अन्तर है।

यह जो धनुष है, जिसके लिए महाराज जनक ने प्रतिज्ञा की है, यह भगवान शंकर द्वारा दी गयी है और दूसरा धनुष श्रीकृष्ण के मामा, मथुरा के राजा कंस की यज्ञशाला में रखा हुआ था, पर वह शंकर जी द्वारा प्रदत्त नहीं था। श्रीमद्भागवत में वर्णन आता है कि उस धनुष को खूब सजा कर और बड़ा भव्य बनाकर रखा गया था। पर मथुरा के धनुष और जनकपुर के धनुष में अन्तर यह है कि 'मथुरा' कंस की नगरी है और 'विदेह' महाराज जनक का नगर है। अब यदि इसे आध्यात्मिक दृष्टि से देखें तो इसका अर्थ क्या हुआ? मिथिला विदेह की नगरी थी और मथुरा देहाभिमान की।

बाद में कंस का विनाश हो जाने पर भगवान कृष्ण उस नगर को परिवर्तित कर देते हैं, पर लीला का विस्तार वहाँ नहीं हुआ। भगवान मथुरा त्याग देते हैं और आगे की लीला वे द्वारका में सम्पन्न करते हैं। कंस और महाराज जनक में अन्तर यह है कि महाराज जनक चाहते हैं कि यह धनुष टूटे, लेकिन कंस तो धनुष टूटने की बात तो दूर, वह चाहता है कि उसमें खरोंच तक न लगे, कोई उसे छू तक न सके। वहाँ तो धनुष को शोभा के लिए खूब सजाकर रखा गया है। वह चाहता है कि सब उसकी पूजा एवं सम्मान करें। उस धनुष के चारों ओर रक्षक नियुक्त किये गये थे, ताकि कोई उस तक पहुँच न सके, कोई उसे हानि न पहुँचा सके। वह चाहता है कि सभी लोग उस धनुष को प्रणाम करें और उसकी महिमा और मेरे गौरव को स्वीकार करते हुए अनुभव करें कि मैं कितना महान् हूँ। यही अन्तर है महाराज जनक और कंस में।

विदेह नगर का क्या अर्थ है? वैसे तो महाराज जनक भी देहधारी हैं, उनका भी शरीर है, इन्द्रियाँ हैं, पर वैचारिक दृष्टि से, ज्ञान की दृष्टि से वे देह से ऊपर उठे हुए हैं, विदेह हैं। वे देह के मिथ्यात्व को जानते हैं, इसलिए देह के प्रति उनकी रंचमात्र भी आसक्ति नहीं है। और जिन सीताजी को उन्होंने पुत्री के रूप में स्वीकार किया, उनका भी जन्म देह के द्वारा नहीं हुआ, वे भी वैदेही हैं। महाराज जनक की पत्नी सुनैना हैं। सीताजी का प्राकट्य सुनैना के गर्भ से नहीं हुआ, परन्तु जनक जी और सुनैना जी ने उन्हें पुत्री के रूप में स्वीकार करते हुए अपनी विदेह-वृत्ति का परिचय दिया।

इसका अर्थ यह है कि संसार के सारे सम्बन्धों का केन्द्र व्यक्ति की देह है। देह को केन्द्र बनाकर व्यक्ति धर्म करता है और देह को ही केन्द्र बनाकर देह से जुड़े हुए लोगों की उन्नति का प्रयास करता है। देह तथा देह के नातों से ही उसकी ममता होती है। विश्व के अधिकांश लोग देह को ही सम्बन्ध का आधार मानते हैं। पिता हैं तो देह के नाते, माता हैं तो देह के

नाते, भाई हैं तो देह के नाते, देह ही मानो नातों का केन्द्र है। उसी के आधार पर धर्म की व्याख्या की जाती है और उसे स्वीकार करते हुए व्यक्ति धर्म का पालन करता है।

ठीक है, जब देह सामने है और देह से जुड़े हुए व्यक्ति सामने हैं, तो ऐसी स्थिति में आप स्वयं जैसा अभी स्वयं को देख रहे हैं, कृपया आप इस बात को केवल तोते की तरह न दुहरा दें कि देह मिथ्या है, देह नाशवान है। यह सब तो भाषणों में सुना, पढ़ा और याद किया हुआ पाठ है। देह न तो हमें मिथ्या जान पड़ती है और न नाशवान।

देह ही तो सब कुछ दीख पड़ती है। यहीं से शुरू करेंगे। क्योंकि अभी जो नहीं दिखाई दे रहा है, उसके बारे में यदि हम दावा करने लगेंगे, तो वह दावा टिक नहीं सकता। 'मानस' में इसका सबसे बड़ा दृष्टान्त है सुग्रीव का चरित्र। जब भगवान राम ने सुग्रीव का दुख सुनकर प्रतिज्ञा की – "तुम भयभीत मत होओ, मैं एक ही बाण से उस अभिमानी बालि का वध करूँगा, जिसने तुम्हारे प्रति इतना अन्याय किया है", उस समय भगवान राम और सुग्रीव के बीच एक अनोखा वार्तालाप हुआ। उसमें सुग्रीव ने जितनी बातें कहीं, वे बड़ी उच्च कोटि की थीं। वार्तालाप शुरू होने पर सहसा सुग्रीव ने एक बात कही – "प्रभो, आपने बालि को मारने की प्रतिज्ञा तो की, पर मेरे विचार अब बदल चुके हैं। अब मुझे ज्ञात हो गया कि संसार मिथ्या है और जिनको हम शत्रु के रूप में देखते हैं वह तो ऐसा है कि जैसे स्वप्न में व्यक्ति की किसी से लड़ाई होती है, तो जागने पर भी वह उस लड़ाई को साकार तो नहीं करता, स्वप्न को वह मिथ्या मानता है। मैं समझ गया हूँ कि संसार स्वप्नवत् मिथ्या है, नाशवान है और जो शत्रु-मित्र दिखाई देते हैं, वे एक मिथ्या सपने जैसे हैं। यह जान लेने के बाद अब मेरा मन पूरी तौर से शान्त हो गया है। बालि के प्रति मेरा विद्वेष मिट चुका है और अब तो मुझे लगने लगा है कि बालि मेरा परम हितैषी है, जिसके कारण मेरी आपसे भेंट हुई।" कितनी उच्च कोटि की भाषा है। ज्ञान में जो माना जाता है कि यह संसार स्वप्नवत् मिथ्या है और भक्ति की जो सर्वोच्च भावना है कि भगवान जो करते हैं, वह परम कल्याणमय है और जो भगवान से मिलाये वह परम हितैषी है। सुग्रीव ने कहा –

बालि परम हित जासु प्रसादा।
मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा।।
सपनें जेहि सन होइ लराई।
जागें समुझत मन सकुचाई।। ४/७/१९-२०

सुग्रीव ने ये जो दो वाक्य कहे, ये ज्ञान-भक्ति और वैराग्य के सर्वश्रेष्ठ वाक्य हैं। ज्ञानी भी संसार को मिथ्या मानते हैं। राग-द्वेष, मित्रता-शत्रुता और इस जगत् को स्वप्न के समान मिथ्या मानते हैं। पर यह जो इतनी ज्ञान-भक्ति-वैराग्य की बातें सुग्रीव ने कहीं, उन्हें सुनकर प्रभु को कैसा लगा?

गोस्वामी जी कहते हैं – सुग्रीव की वाणी सुनकर प्रभु खूब हँसे। बोले – वाह, तुमने तो बड़ी अच्छी, बड़ी उच्च कोटि की बात कही है। सुग्रीव की बात सुनकर भगवान हँसने क्यों लगे? बोले – "लगता है कहीं से सुनकर रटे हुए हैं। मुझे देखकर वह रटा हुआ याद आ गया। अब वह पाठ भी दुहरा रहा है तो मेरे सामने।" जरा सोचिए, **भगवान कह रहे हैं – मैं बालि का वध करूँगा और सुग्रीव कह रहा है कि बालि तो मेरा शत्रु है ही नहीं। तो इसका अर्थ हुआ कि भगवान अज्ञानी हैं और सुग्रीव महाज्ञानी।** इसलिए वहाँ पर लिखा हुआ है कि सुग्रीव की बातें सुनकर भगवान खूब हँसे। किसी बच्चे से आप पूछे कि ईश्वर कहाँ रहता है, तो वह कहेगा कि सब जगह रहता है। अब है तो यह सत्य, पर उस बेचारे ने तो इसे कहीं सुना है – चाहे पाठ में सुना है या कैसेट में सुना है या किसी भाषण में सुना है। **सुने हुए सत्य का उपयोग तभी है, जब वह सत्य लगने लगे, अनुभव में आ जाय।**

धर्म का श्रीगणेश तो सर्वदा शरीर और शरीर के सम्बन्धों से ही शुरू होगा। इसलिए शरीर के नाते कर्तव्य-कर्म का पालन करना चाहिए। इसके अनेक प्रमाण, अनेक सूत्र आपको स्मृतियों में मिलेंगे, शास्त्र-ग्रन्थों में मिलेंगे। तात्पर्य यह कि साधारणतया तो व्यक्ति शरीर में स्थित है, शरीर को ही सत्य मानता है, शरीर को निरन्तर अजर-अमर बनाए रखना चाहता है। उसके लिए शरीर से बढ़कर और कोई वस्तु प्रिय नहीं है। इसी का प्रतीक है कंस। कंस देहाभिमानी है, देहात्मवादी है पर बाहर से वह वैसा दिखाई नहीं देता, जैसा वह है। बाहर से वह जैसा दिखाई देता है, भीतर उससे भिन्न है। वह मूर्तिमान दम्भ, कपट और देहाभिमान है और इस मथुरा नगरी में उसका शासन है। श्रीमद् भागवत में वर्णन आता है कि कंस ने अपने पिता को बन्दी बना लिया और मथुरा के सिंहासन पर अधिकार कर लिया। जब देवकी का विवाह वसुदेव के साथ हुआ और देवकी की विदाई होने लगी, देवकी और वसुदेव रथ पर बैठ गये, तब कंस ने रथ के सारथी को नीचे उतरने का आदेश दिया और स्वयं सारथी के स्थान पर बैठकर घोड़ों की बागडोर अपने हाथों में ले ली। मानो वह देवकी तथा वसुदेव के प्रति सम्मान प्रकट करने हेतु स्वयं उनके सारथी के स्थान पर बैठ गया। देखकर लोग गद्गद हो गये कि कंस कितना विनम्र है। याद रहे – **जो बड़े विनम्र दिखाई देते है, यह जरूरी नहीं कि वे निरभिमानी भी हों, यह बड़ा विचित्र मनोविज्ञान है। अभिमानी तो अभिमानी होते ही हैं, पर जो बड़े विनम्र दिखाई देते हैं, वे भीतर से और भी गहरे अभिमानी होते हैं।** आप स्वयं इस मनोविज्ञान पर विचार कीजिए। कंस वस्तुतः घोर अभिमानी है, पर बाहर से वह लोगों में धारणा बनाना चाहता है कि मैं कितना विनम्र हूँ! हम कंस को अपना आदर्श क्यों नहीं मानते? क्या कंस अच्छे कार्य नहीं करता था? वह भी

अच्छे कार्य करता था, पर उसके पीछे उद्देश्य यही रहता था कि लोगों के सामने यह प्रदर्शित किया जाय कि वह कितना विनम्र है, जो स्वयं सारथी बनकर अपने बहन-बहनोई देवकी-वसुदेव के रथ को चला रहा है, उन्हें सम्मान दे रहा है।

व्यक्ति के जीवन में दो प्रकार के दोष दिखाई देते हैं। एक दोष तो वह होता जो उसके जीवन में प्रत्यक्ष दिखाई देता है और दूसरा वह जो दम्भ की आड़ में आता है। दम्भ का अर्थ है, जैसे हम नहीं हैं, वैसा लोगों को दिखाने की चेष्टा करना।

कथा में हम सुनते है कि जब कंस रथ चलाने को सारथी के स्थान पर बैठा, तभी सहसा आकाशवाणी हुई। सुनकर बड़ा अटपटा-सा लगता है। आकाशाणी हुई – "कंस, जिसको तुम इतना सम्मानपूर्वक रथ पर बिठाकर ले जा रहे हो, उसके ही आठवें गर्भ से तुम्हारा विनाश होगा, वह तुम्हारी मृत्यु का कारण बनेगा।" क्या आवश्यकता थी इस आकाशवाणी की? अच्छा तो होता कि देवकी वसुदेव के साथ चली जातीं, उनके गर्भ से भगवान का प्राकट्य होता और वे कंस का वध कर देते। बड़ा सरल था। तो फिर आकाशवाणी क्यों की गई? इसमें एक बड़ा सुन्दर मनोविज्ञान है। बुराई के नष्ट होने का उपाय क्या है? बुराई को यदि आप अच्छाई के रूप में देखेंगे, तो उसे कभी नहीं छोड़ेंगे। जब बुराई आपको बुराई के रूप में दिखने लगे, तो जानिए कि यह पहला शुभ लक्षण है, इसी कारण 'मानस' में कहा गया है कि मनोरोग तो सभी के जीवन में सदा विद्यमान है। उससे कोई भी व्यक्ति मुक्त नहीं है –

एहि बिधि सकल जीव जग रोगी ।
सोक हरष भय प्रीती बियोगी ।। ७/१२२/१

संसार के समस्त लोग मानसिक रोग से ग्रस्त हैं। ये रोग वैसे तो तीन प्रकार के हैं, पर मुख्य रूप से दो प्रकार के हैं। एक प्रकार के मानसिक रोगी तो वे हैं, जो स्वयं में रोग न देखकर दूसरों में देखते हैं। यह मनोरोग का सर्वाधिक विकृत रूप है। रोग यदि स्वयं में न दिखाई देकर सामनेवाले में दिखने लगे, तो यह सर्वाधिक भयानक बात है। अपने में दिखाई देगा तो आप दवा खोजेंगे। पर रोग अपने में तो नहीं, बल्कि सामने वाले व्यक्ति में दिखाई दे, तो कहेंगे रोगी यह है, इसे दवा पिलानी चाहिए। इस प्रकार, एक तो वे हैं जो दूसरो में बुराई देखते हैं, पर अपने में नहीं देखते और दूसरे वे हैं जो यह जानते ही नहीं कि यह बुराई है। फिर तीसरे भी हैं, जो बुराई को बुराई के रूप में जानते हैं। 'मानस' के उत्तरकाण्ड में मानस-रोग-प्रसंग में इसका वर्णन हुआ है।

तो मानस-रोग के सन्दर्भ में कहा गया कि बुराई बुराई के रूप में दिखाई दे जाय, तो सबसे शुभ लक्षण यही है। संसार में ऐसा कौन है, जिसके मन में कोई रोग न हो, कोई बुराई न हो, परन्तु विरले ही व्यक्ति अपने मनोरोग को रोग के रूप में जान पाते हैं और जान लेने पर वह थोड़ा कम हो जाता है –

हहिं सब कें लखि बिरलेन्ह पाए ।।
जाने ते छीजहिं कछु पापी ।। ६/१२२/२-३

आप नहीं जान रहे हैं कि आप में रोग है, तो इसके लिए दवा या उसका पथ्य आप नहीं कर रहे हैं। पर जानने से रोग भले ही नष्ट न हो, पर जानने से अन्तर तो जरूर पड़ता है।

यही संकेत श्रीमद् भागवत में मिलता है। आकाशवाणी का उद्देश्य यह था कि सबसे पहले आप बुराई को बुराई के रूप में जानिए। कंस जब देवकी और वसुदेव को सम्मान देने के लिए उनके रथ का सारथी बन गया, तो लोगों में कानाफूसी होने लगी कि कंस कितना सज्जन और विनम्र है, निरभिमानी है, राजा होकर रथ हाँक रहा है। आकाशवाणी का अभिप्राय है कि बुराई को बुराई के रूप में पहचानिए, कंस को कंस के रूप में पहचानिए। आकाशवाणी हुई और कंस का असली रूप प्रगट हो गया। आकाशवाणी सुनते ही वह घोड़ों का लगाम छोड़कर नीचे कूद पड़ा और इतना ही नहीं, जिस बहन के प्रति लोगो के सामने इतना सम्मान दिखा रहा था, उसी देवकी के बाल पकड़कर रथ से नीचे खींच लिया और तलवार निकाल कर उसका सिर काटने के लिए तैयार हो गया। वसुदेव जी मनाने लगे। श्रीमद् भागवत में इसका बड़े विस्तार से वर्णन हुआ है। इसका क्या अर्थ है?

देह की सबसे बड़ी समस्या यह होती है कि देह के नाते का सम्बन्ध माननेवाला उन सम्बन्धों को तो बड़ा महत्त्व देता है, जिनका सम्बन्ध देह से होगा है, पर उनसे भी अधिक महत्व वह स्वयं को देता है। यह बहुत अच्छी तरह से समझने की बात है। सतीजी जब दक्ष के यज्ञ में जाती है, तो उस समय का वर्णन संकेत के रूप में किया गया है कि सती को देखकर दक्ष को बड़ा क्रोध आ गया। सती तो दक्ष की पुत्री हैं, पर शंकर की प्रिया हैं इसलिए दक्ष को यह भी ध्यान नहीं रहा कि यह मेरी पुत्री है। यही मनोविज्ञान यहाँ पर भी है।

देहाभिमानी कंस तभी तक सज्जन है, विनम्र है, तभी तक देवकी उसकी बहन है, वसुदेव बहनोई हैं, तभी तक उनके प्रति वह सम्मान प्रगट करता है, जब तक कोई उसके अहं पर, उसके शरीर पर चोट न पहुँचाए। पर अपने शरीर को नष्ट करनेवाले को जन्म देनेवाली का सिर काटे बिना वह नहीं छोड़ेगा, फिर चाहे वह उसकी सगी बहन ही क्यों न हो। यही देहाभिमान है और यही कंस है। भागवत (१०/१/३८) में वसुदेव जी ने कंस से एक बड़ी सुन्दर बात कही – "हे वीर, जन्मते समय देह के साथ ही मृत्यु भी पैदा होती है। आज हो या सौ वर्ष बाद पर प्राणियों की मृत्यु तो अवश्यम्भावी है" –

मृत्युजन्मवतां वीर देहेन सह जायते ।
अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः ।।

इससे आगे की कथा से आप परिचित हैं। इसका अभिप्राय यह है कि **आप वहाँ से मत प्रारम्भ कीजिए, जो बड़े बड़े ग्रन्थों में लिखा हुआ है या जो बड़े बड़े उपदेशक आपके सामने कहते हैं**। हम कंस की तरह दिखावा न करें और न ही सुग्रीव के समान केवल रटा हुआ पाठ दुहरा दें। कोई अच्छी बात आपने सुनी, जैसे किसी ने कहा – ईश्वर कहाँ हैं? बोले – सब जगह हैं। या कहें – ईश्वर का नित्य ध्यान करना चाहिए। ये सारे वाक्य केवल दुहराए जाते हैं।

हम वहाँ से शुरू करें, जैसा हमें दिखाई देता है। **पहले शरीर के नाते माता-पिता के प्रति हमारा क्या कर्तव्य है,** भाई से हमें कैसा प्रेम करना चाहिए – यह शिक्षा शास्त्रों ने हमें दी है, उसका पालन करना उचित है। पर आगे चलकर व्यक्ति को यह प्रतीत होने लगेगा कि यही सब कुछ नहीं है। **धर्म-पालन के फलस्वरूप हमारे जीवन में वैराग्य का उदय होना ही चाहिए**। यदि हम अपने जीवन में धर्म का पालन कर रहे हैं और संसार के प्रति हमारी आसक्ति बढ़ती जा रही है तो जान लीजिए कि धर्म-पालन का सही परिणाम हमारे जीवन में नहीं आ रहा है। धर्म का पालन करते हुए जीवन व्यतीत करने पर यदि हमारी आसक्ति कम होने लगे, ममता कम होने लगे, तो समझना चाहिए कि धर्म की दवा का सही लाभ मुझे मिल रहा है। दवा भी तो कई लोगों को बहुत हानि करती है। कई दवाइयाँ ऐसी होती हैं, जिन्हें खाने पर लोग और भी बीमार हो जाते हैं। यदि आपकी ममता बहुत बढ़ जाय तो समझ लीजिए कि वह धर्म की दवा का रिएक्सन या साइड इफेक्ट हो रहा है, उसका जीवन में दुष्परिणाम हो रहा है। कहा गया है –

धर्म तें बिरति जोग तें ग्याना।
ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना।। ३/१६/१

जब हम शरीर के नातों के व्यवहार का पालन करते हुए, धर्म का पालन करेंगे, तो धीरे धीरे ममता कम होती चली जाएगी। धर्मपूर्वक व्यवहार का निर्वाह करते रहने पर सम्बन्धों के प्रति आसक्ति घटेगी, बढ़ेगी नहीं।

कुछ वर्ष पूर्व बरेली में तुलसी-जयन्ती का उत्सव मनाया जा रहा था। शान्ति देवी वहाँ की एक बहुत अच्छी कवयित्री हैं। उन्होंने बड़ी सुन्दर कविताएँ लिखी हैं। तुलसी-जयन्ती का आयोजन था, उसमें कवि-सम्मेलन भी हो रहा था। शान्ति देवी से भी आग्रह किया गया। उन्होंने कविता सुनाई। उसमें उन्होंने कहा कि तुलसीदास से अधिक बधाई तो रत्नावली को देना चाहिए, जिन्होंने तुलसीदास को तुलसीदास बना दिया। इस पर मैंने विनोद में कहा और सत्य भी कहा कि रत्नावली की भूमिका को हम अस्वीकार नहीं करते, पर उन्होंने तुलसीदास को साधु बना दिया वह कैसे? बोलीं, "रत्नावली यदि तुलसीदास से कठोर शब्द नहीं बोलतीं, तो वे साधु कैसे बनते? तो मैंने कहा – पत्नी के कठोर वचन सुनकर यदि लोग तुलसीदास बनते होते, तो हर साल लाखों तुलसीदास पैदा हो जाते। कठोर शब्द तो लाखों लोग रोज सुनते ही रहते हैं, पर ममता तो उनकी कम नहीं हुई।" इसका अर्थ यह है कि वैराग्य कठोर शब्दों से नहीं, वह तो धर्म से होता है। **वैराग्य धर्म का फल है**। त्याग का दिखावा वैराग्य नहीं है। घर में हैं या बाहर, यह तो आपके संस्कार की वृत्ति पर है। अत: जब राग धीरे धीरे कम होता जाय, तब समझना चाहिए कि धर्म की दवा का सही परिणाम हमारे जीवन में हुआ या हो रहा है।

क्या कंस, दुर्योधन या रावण के जीवन में धर्म नहीं है? क्या लंका के निवासी राक्षसों के जीवन में धर्म नहीं था? इसका उत्तर यह है कि यदि आप उनके क्रिया-कलापों को महत्त्व देते होंगे, तब तो वे बड़े सभ्य दिखाई देते हैं। उनके जीवन में बड़े उच्च कोटि के कार्य दिखाई देते हैं। वहाँ भी तो बड़े बड़े यज्ञों के अनुष्ठान हो रहे हैं। भेद कहाँ है? राजसूय-यज्ञ के प्रसंग में वर्णन आता है कि महाराज युधिष्ठिर ने जब वह यज्ञ किया और उसमें सम्मिलित होने के लिए दुर्योधन भी गया; परन्तु वहाँ पहुँचकर उसके मन में क्या वृत्ति आई? उसने अपने आचार्य से पूछा कि क्या हम इससे भी ऊँचा यज्ञ कर सकते हैं? उसके मन में ऐसी बात क्यों आई? इसका अभिप्राय है कि यह जो धर्म की वृत्ति है, इसके पीछे वस्तुत: होड़ की वृत्ति है। इस होड़ की वृत्ति के पीछे जीवन में जो धर्म की वृत्ति आती है, वह टिकाउ नहीं होती, वह नकली होती है। धर्म का वास्तविक प्रेरक तो श्रद्धा है –

श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई। ७/९०/४

श्रद्धा के द्वारा धर्म होगा, तो धीरे धीरे राग और ममता कम हो जायेगी और अगर दिखावे के लिए होगा तो राग, ममता और आसक्ति बढ़ती जाएगी।

कंस का जीवन-रूप जो मथुरा है, वहाँ तो देह ही सब कुछ है, वहाँ सम्बन्धों का आधार ही देह है – देह की ममता, देह का अभिमान। कंस है देहाभिमान और मथुरा है देहनगर। इसीलिए भगवान श्रीकृष्ण ने जन्म लेने के लिए भले ही मथुरा का चुनाव किया, पर मथुरा में प्रगट होते ही उन्होंने वसुदेव को आदेश दिया कि मुझे यहाँ से ले जाकर गोकुल गाँव में यशोदा की बगल में सुला दीजिए। भगवान का अभिप्राय क्या था? यह कि भगवान ने मथुरा में जन्म अवश्य लिया, पर तत्काल उसका त्याग कर दिया। दोनों लीलाओं में मथुरा का त्याग कर दिया। कंस तो प्रतीक्षा ही कर रहा था कि जिसके द्वारा मेरी मृत्यु होनेवाली है, उसका वध करके मैं स्वयं को अमर बना लूँ। पर भगवान मथुरा को त्यागकर गोकुल चले गये। फिर कंस-वध के बाद जब मथुरा पर बार बार आक्रमण होने लगा, तो वे पुन: मथुरा छोड़कर द्वारका चले गये।

ये आध्यात्मिक सूत्र हैं। मथुरा में भी बड़ी विचित्र लीलाएँ हुईं, पर वह लीला का केन्द्र नहीं बना। भगवान मथुरा में नहीं

रहे। उनका लालन-पालन मथुरा में नहीं हुआ, क्योंकि जिस नगर में कंस जैसा देहाभिमानी है, वहाँ भक्ति-भावना की वृद्धि भला कैसे होगी? इसीलिए भगवान कृष्ण के भक्त कभी कभी मुझसे व्यंग-विनोद करते हैं। मैं वृन्दावन धाम में रह चुका हूँ, बहुत थोड़ी आयु में वहाँ पर रामनवमी की कथा मैंने कही। नवमी सर्वश्रेष्ठ तिथि है। वहाँ तो भगवान श्रीकृष्ण के भावुक भक्त हैं। उन्होंने कहा – "वाह, नवमी को बड़ा बताकर आप हमारे प्रभु के जन्मतिथि की महिमा को कम करना चाहते हैं। यदि नवमी श्रेष्ठ है, तो अष्टमी क्या कम है, जिसमें भगवान श्रीकृष्ण ने जन्म लिया?" मैंने कहा – "भले ही उनका जन्म अष्टमी को हुआ, पर उसका आनन्द नवमी को ही तो मिला! गोकुल में जो आनन्दोत्सव मनाया गया, वह आनन्द तो बिना नवमी के नहीं मिलता, चाहे वे श्रीराम के रूप में आवें या कृष्ण के रूप में, उनके आने का आनन्द तो लोगों को नवमी तिथि को ही मिलेगा। नवमी है नवधा भक्ति। नवधा भक्ति की पूर्णता में ही भगवान के प्राकट्य की बेला होती है।"

इसका अभिप्राय है कि इस देहनगर में रहनेवाला जो कंस है, वह मानो देह की अहंता, देह की ममता और उससे जुड़े हुए राग-द्वेष-अभिमान, बस इन्हीं की आराधना में लगा हुआ है और उसका जो धनुष है, वह वस्तुत: अभिमान है। श्रीमद् भागवत में उसका वर्णन आया है कि कंस की यज्ञशाला में धनुष को सजाकर रखा गया था। भगवान श्रीकृष्ण जब वहाँ पधारे, तो यज्ञशाला में धनुष को खूब सजा हुआ देखा। बोले – धनुष तो बड़ा सुन्दर है। वे उस धनुष की ओर बढ़े – जरा उठाकर तो देखें कि यह धनुष कैसा है! वहाँ धनुष के चारों ओर रक्षक खड़े थे। वे श्रीकृष्ण को रोकने दौड़े। बोले – "बस, दूर से प्रणाम करो; आगे बढ़ने का, छूने का या उठाने का साहस मत करना।" कृष्ण भला उनकी बात क्यों मानने लगे! त्रेतायुग में भगवान जिन कार्यों को बड़ी सरलता से कर लेते थे, उन्हें द्वापर में उनको बड़ी कठिनाई से करना पड़ता था। जनकपुर से तो भगवान राम को निमंत्रण भी नहीं था, पर रक्षक श्रीकृष्ण को नहीं रोक सके और देखते-ही-देखते उन्होंने धनुष को उठाकर तोड़ दिया। सैनिकों ने उन्हें चारों ओर से घेर लिया, प्रहार करने के अस्त्र भी उठाये, पर भगवान श्रीकृष्ण ने उनका वध कर दिया। किस अस्त्र से वध किया? उनका वध करने के लिए उन्होंने कोई अस्त्र नहीं लिया। उस टूटे हुए धनुष के टुकड़े से ही उन्होंने सैनिकों को मार डाला।

हम जिस देवता की पूजा करते हैं, जिस धनुष को सजाकर रखते हैं, वह मानो हमारे व्यष्टि का अभिमान होता है। हम अपने इस अभिमान को सजाने में ही लगे हुए है और कहते है – हमारे अभिमान को दूर से प्रणाम करो, पर उसे छूने का दुस्साहस मत करना। जो कंस अर्थात् देहाभिमानी होगा, वह देह के अभिमान को सदा सुन्दर ढंग से सजाकर रखेगा और यही चाहेगा कि यह नष्ट न हो, उसकी सुन्दरता बनी रहे।

और दूसरी ओर महाराज जनक का धनुष-यज्ञ है, यह विदेहनगर का धनुष-यज्ञ है। विदेह का अर्थ क्या है? महाराज जनक की भी देह है, पर देह होते हुए भी उनके अन्त:करण में देह-वृत्ति न होकर विदेह-वृत्ति है और उसी विदेहनगर की भूमि में सीताजी का प्राकट्य हुआ। पुत्री के रूप में उन्हें अपनी गोद में लेकर जनक जी ने वात्सल्यपूर्वक लालन-पालन किया और उन्हीं जनकनन्दिनी का भगवान की लीला में श्रीराम के साथ विवाह होता है, तब वे समर्पित होती हैं।

महाराज जनक की सभा में जो धनुष रखा है, वह भगवान शिव का धनुष है। और कंस की सभा में जो धनुष है, वह शिव जी का धनुष नहीं है। यह एक बहुत बड़ा अन्तर है। कंस चाहता है कि उसके धनुष को कोई तोड़ न सके, पर जनक जी की तो प्रतिज्ञा ही यही है कि जो इस धनुष को तोड़ देगा, उसे मैं अपनी कन्या अर्पित करूँगा। 'मानस' में महाराज जनक के इस सभा को धनुष-यज्ञ कहा गया, कंस की सभा के लिए यह शब्द वहाँ नहीं है। महाराज जनक के इस धनुष-यज्ञ में सारे संसार के राजा एकत्र हुए हैं और उनकी योग्यता की परीक्षा के लिए सामने धनुष रखा हुआ है।

महाराज जनक काफी काल से उस धनुष की पूजा करते थे, पर अन्त में जब उन्होंने सीताजी को पा लिया, उन्हें पुत्री के रूप में स्वीकार कर लिया, तब उन्हें लगा कि मेरी पुत्री के लिये वही उपयुक्त वर होगा, जो इस धनुष को तोड़ दे। यदि इस कथा को स्थूल रूप में देखें, तो वह भी ठीक है। कहते हैं कि जहाँ धनुष रखा हुआ था, उस स्थान को स्वच्छ करना, गोबर से लीपना आदि कार्य अन्य लोग करते थे। एक दिन किशोरी जी ने स्वयं माँ के सामने इच्छा व्यक्त किया कि इस स्थान को मैं स्वच्छ करके गोबर से लीप दूँ। गईं, तो देखा कि धनुष के चारों ओर तो स्वच्छ करके गोबर से लीपा गया है, पर धनुष के नीचे ज्यों-का-त्यों पड़ा हुआ है। उन्हें लगा कि यह तो अधूरापन है। उन्होंने बाएँ हाथ से धनुष को उठाकर उस स्थान को गोबर से लीप दिया। महाराज जनक नित्य की भाँति पूजन के लिए जब वहाँ आए, तो उन्हें आश्चर्य हुआ कि आज तो धनुष की स्थिति कुछ बदली हुई है – उसके नीचे भी स्वच्छ है। उन्होंने महारानी सुनैना से पूछा कि धनुष को किसने उठाया! उन्होंने कहा – पुत्री सीता गई थी और उसने धनुष को बाएँ हाथ से उठाकर भूमि को स्वच्छ कर दिया है। यह सुनकर महाराज जनक को लगा कि जब मेरी पुत्री ने धनुष को बाएँ हाथ से उठा लिया, तो उसके लिए योग्य वर उसी को माना जाना चाहिए, जो इसे उठा दे और तोड़ भी दे। अत: उन्होंने प्रतिज्ञा की कि मेरी पुत्री के लिए योग्य वर वही होगा, जो इस धनुष को उठाकर तोड़ देगा। यह एक स्थूल अर्थ है। ❖ (क्रमश:) ❖

मैत्रीभाव का तत्त्व

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

एक बार किसी महिला ने श्रीरामकृष्णदेव की लीला-सहधर्मिणी श्री माँ सारदा से पूछा था, "माँ, हमें शान्ति कैसे मिले?" और माँ ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा था, "यदि शान्ति पाना चाहती हो, बेटी, तो किसी के दोष न देखना, दोष देखना अपना। कोई पराया नहीं है, बेटी, सब अपने हैं। सबको अपना बना लेना सीखो।"

यह मैत्रीभाव का सूत्र है। हममें अपने और पराये का भाव जन्मजात है। इसे संस्कार और चिन्ता के द्वारा बदलने की चेष्टा करनी होगी। एक घर के ही विभिन्न सदस्यों में भेद इस अपने-पराये की बुद्धि से उत्पन्न होता है और काल में पल्लवित होकर घर को ही फोड़ डालता है। एक माता जब भोजन परसती है, तो अपने लड़के की रोटी में अधिक घी चुपड़ देती है, भतीजे या भान्जे की रोटी में कम। अपने पति की दाल वाली कटोरी में पत्नी अधिक घी डाल देगी, जबकि अपने देवर के लिए कम। ये उदाहरण इसलिए दिये गये कि छोटी छोटी बातें हमारी मनोवृत्ति को उजागर करती हैं। यह ऐसी मनोवृत्ति है, जो मैत्रीभाव की जड़ पर ही कुठाराघात करती है। इससे अपने-पराये का भाव और पुख्ता हो जाता है। यह अन्ततोगत्वा घर के टुकड़े टुकड़े कर देता है। उसकी परिणति आपसी कलह और वैमनस्य में होती है।

जैसे यह एक घर के लिए सत्य है, वैसे ही समाज के लिए भी। हम समाज को जोड़ने का दावा तो करते हैं, पर घर को ही नहीं जोड़ पाते। हम एक ओर कहते हैं कि मनोवृत्ति को उदार बनाओ, पर दूसरी ओर हमीं संकीर्णता के शिकार बने रहते हैं। संस्कृत में एक सुभाषित है, जिसमें कहा गया है –

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदार-चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

– अर्थात् "यह मेरा है, यह उसका – ऐसी बुद्धि ओछे हृदयवाले की होती है, पर जो उदारहृदय हैं, उनके लिए तो यह सारी वसुधा ही कुटुम्ब है।" अब, यह बात कहने और सुनने में अच्छी तो लगती है, पर प्रश्न यह है कि क्या हम इस पर अमल करने के लिए कभी प्रयत्नशील होते हैं?

हम तो अत्यन्त नगण्य बातों के लिए भी 'तू-तू मैं-मैं' करते हैं, इसलिए हमारे मुँह से 'वसुधैव कुटुम्बकम्' वाली बात शोभा नहीं देती।

एक मजेदार घटना का स्मरण हो आता है। मेरे मित्र रेल से कहीं जा रहे थे। डिब्बे में बड़ी भीड़ थी। पहले तो उन्हें चढ़ने ही नहीं दिया जा रहा था, पर जब किसी प्रकार चढ़ गये, तो बैठने की कोई गुंजाइश नहीं दिखी। उधर एक व्यक्ति पूरी सीट पर दरी बिछाये सो रहा था। हमारे ये मित्र उस सोने वाले व्यक्ति के पैर हटाकर बैठ गये। फिर क्या था, महाभारत मच गया। जब थोड़ा थमा, तो सामने वाले व्यक्ति से हमारे मित्र की चर्चा होने लगी। परस्पर परिचय दिया गया। हुआ यह कि हमारे मित्र उस सोने वाले व्यक्ति के साढू के चचेरे भाई निकले। अब क्या था, सोने वाले व्यक्ति उठ खड़े हुए, हमारे मित्र से माफी माँगी और उन्हें अच्छी तरह से तो बिठाया ही, रास्ते भर तरह तरह की चीजें खिलाते चले।

इस-घटना के वर्णन का उद्देश्य यह है कि यदि एक अनजान व्यक्ति के प्रति ममत्व का कोई रेशा निकल आये, तो हमारा परायापन कपूर की तरह उड़ जाता है और हमारे हृदय की संकुचित भावना तिरोहित हो जाती है। यदि हम प्रयत्नपूर्वक इस ममत्व का विस्तार संसार में सबके प्रति कर सकें, तो इससे मैत्री भाव दृढ़ होता है और आपसी कलह का शमन होता है। उसी एक ईश्वर के उपजाये होने से हममें परस्पर भ्रातृभाव होना चाहिए, यदि ऐसी मनोवृत्ति को हम चेष्टा करके अपने भीतर दृढ़मूल कर सके, तो शान्ति पाने की दिशा में हम एक सार्थक कदम धरते हैं।

हमारे यहाँ धर्मशास्त्रों में निर्वैर की बड़ी महिमा गायी गयी है। वैर मनुष्य की आध्यात्मिक प्रगति में सबसे बड़ा बाधक तत्त्व है। उसका शमन मैत्री भाव से ही हो सकता है। भगवान बुद्ध का उपदेश इस सन्दर्भ में मननीय है –

न वेरेण वेराणि समन्तीध कुदाचन।
अवेरेण हि समन्तीध एष धम्म सनत्तन॥

– अर्थात् वैर भाव द्वारा वैर भाव दूर नही होता; अवैर भाव यानि मैत्री भाव द्वारा ही वह सम्पन्न होता है – यही सनातन धर्म है। ❑❑❑

जीने की कला (३१)

स्वामी जगदात्मानन्द

(लेखक रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी हैं। उन्होंने युवकों के लिए जीवन-निर्माण में मार्गदर्शन करने हेतु कन्नड़ भाषा में एक पुस्तक लिखी, जो अतीव लोकप्रिय हुई। इसका अंग्रेजी अनुवाद भी दो भागों में निकला है। इसकी उपयोगिता को देखकर हम इसका धारावाहिक प्रकाशन कर रहे हैं। अनुवादक हैं श्री रामकुमार गौड़, जो सम्प्रति आकाशवाणी के वाराणसी केन्द्र में सेवारत हैं। – सं.)

पिछले जन्मों के द्रष्टा

ओहियो (प्रान्त) के डेयटन का एक धनाढ्य मुद्रक आर्थर-लैमर्स 'कैसी' के बारे में फैली सभी खबरों के अध्ययन करने वालों में एक था। दर्शन, ज्योतिष, सम्मोहन आदि विविध विषयों में उसकी रुचि थी। वह कैसी के निवास-स्थान सेल्मा में आ गया। उसने सम्मोहन-निद्रा के दौरान कैसी द्वारा दिए गए बयानों से सम्बद्ध मामलों का सावधानीपूर्वक अध्ययन किया। उसने पाया कि कैसी एक सच्चा और ईमानदार व्यक्ति था। लैमर्स की स्वास्थ्य-सम्बन्धी कोई निजी समस्या नहीं थी, अत: उसने इस हेतु कैसी की मदद नहीं माँगी। इसके बजाय वह कुछ विशेष प्रश्नों में अत्यधिक रुचि रखता था, यथा – जीवन का क्या उद्देश्य है, सुख-दुख का क्या तात्पर्य है, विभिन्न लोगों के भाग्यों में भेद का क्या कारण है, मरणोपरान्त मनुष्य का क्या होता है, क्या मृत्यु का तात्पर्य विस्मृति में समा जाना है, क्या अमरत्व के सिद्धान्त में कुछ सत्य है या क्या यह अमर होने की मनुष्य की अन्तर्निहित इच्छा को दृढ़ बनाने हेतु कोई कल्पित बात है? वह जानना चाहता था कि क्या कैसी की अतीन्द्रिय शक्ति ऐसे प्रश्नों का उत्तर दे सकती है!

लैमर्स ने १९२३ ई. के अक्तूबर माह में कैसी और उसके परिवार को अपने गाँव आने का निमंत्रण दिया। उसने कैसी की सम्मोहन अवस्था में उससे अपनी जन्मपत्री के बारे में पूछा। कैसी अच्छी बातों को स्वीकार करके उनका उपयुक्त उत्तर देता था। उसने पहले लैमर्स की जन्मपत्री का विवरण दिया और फिर कहा, "पहले तुम एक तपस्वी थे।"

पिछले जन्मों का कोई प्रसंग उठाये बिना ही आयी इस उक्ति को सुनकर लैमर्स उत्तेजित हो गया। लैमर्स ने तो उससे केवल अपनी जन्मपत्री के बारे में पूछा था। कैसी के सम्मोहित अवस्था के मन में आयी हुई बात पुनर्जन्म के सिद्धान्त से सम्बन्धित थी। यदि यह सत्य सिद्ध हो जाता तो दर्शन-शास्त्र का परिप्रेक्ष्य, धर्म और मनोविज्ञान के क्षेत्र में आमूल परिवर्तन करना पड़ सकता था। लैमर्स ने अपनी खोज जारी रखने का निश्चय किया। कैसी ने भी अनिच्छापूर्वक स्वीकृति दे दी।

कैसी की पत्नी, उसके दो बच्चों और उसके परिवार के सदस्य-जैसे बन चुके आशुलिपिक ग्लैडिस डेविस – इनमें से प्रत्येक ने कैसी से अपने अपने पूर्व-जन्मों के वृत्तान्त पूछे। अपने एक पुत्र के बारे में कैसी ने कहा, "तुमने पिछले चार जन्म एक शोध वैज्ञानिक के रूप में बिताये हैं। परन्तु अब तुम स्वार्थी और संसारी हो रहे हो।" दूसरे पुत्र के बारे में उसने कहा, "तुम बड़े चिड़चिड़े हो। तुम्हारा व्यवहार निन्दनीय है। तुम्हें मिस्र और इंग्लैंड के अपने दोनों ही पिछले जन्मों में इसके कारण दुख भोगना पड़ा था। कम-से-कम अब से तो स्वयं पर नियंत्रण करना सीखो।"

उसकी शक्ति का उद्भव

एक बार कैसी की सम्मोहित अवस्था में उसी के पूर्वजन्म के बारे में प्रश्न किया गया। कई शताब्दियों पूर्व वह मिस्र देश में पुरोहित था। तभी उसे कुछ अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त हुई थीं। पर अपने अहंकार, जिद्दीपने, स्वेच्छाचारिता तथा भोग-परायणता के कारण उसने अपनी शक्तियों का दुरुपयोग किया। कालान्तर में उसकी अलौकिक शक्तियाँ लुप्त हो गयीं। एक परवर्ती जीवन में वह एक चिकित्सक था। एक युद्ध में घायल होकर वह तीन दिनों तक बिना अन्न-जल के एक मरुभूमि में पड़ा हुआ घोर पीड़ा का भोग करता रहा। उसने अपनी इच्छा-शक्ति से देहत्याग कर दिया था। मन को अपनी देह की सीमाओं से मुक्त रखने की उसकी अति-मानवीय सामर्थ्य कुछ हद तक उसे उस जीवन में चिकित्सक के रूप में अर्जित कौशल से प्राप्त हुई थी। उसने घोषित किया कि **उसके वर्तमान जीवन के गुण-दोष उसके पिछले जन्मों के संचित अनुभव और कर्मों के परिणाम हैं**। उसका वर्तमान जीवन उसे अहंकार और स्वेच्छाचारिता से मुक्त करने के लिए नियति द्वारा निर्धारित किया गया था। अब, इस जीवन में उसके सम्मुख यह परीक्षा की घड़ी थी कि क्या वह अपने ईश्वर-प्रदत्त उपहार का प्रयोग अपनी निजी स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों के लिए करेगा या अपने मानव-बन्धुओं की सेवा के लिए।

पुनर्जन्म क्रमविकास का सूचक है

कैसी एक द्वन्द्व में था। एक ओर तो वह अपनी सम्मोहन अवस्था के दौरान की गई भविष्यवाणियों का खण्डन नहीं कर सकता था। दूसरी ओर, एक धर्मपरायण ईसाई होने के कारण पुनर्जन्म का नियम उसके धार्मिक विश्वासों से मेल नहीं खाता था। लैमर्स ने अपने ज्ञान द्वारा उसे सांत्वना देने का प्रयास किया। उसने उपयुक्त उदाहरणों द्वारा समझाया कि ईसा मसीह की शिक्षाओं में भी पुनर्जन्म के सन्दर्भ थे, परन्तु परवर्ती काल में चर्च के धर्माचार्यों ने उसे अस्वीकार कर दिया था। लैमर्स

ने कैसी को समझाते हुए कहा, "पुनर्जन्म एक तरह से क्रम-विकास की प्रक्रिया है, मनुष्य इस पृथ्वी पर असंख्य जन्म ग्रहण करता रहता है। कभी वह पुरुष के रूप में, तो अगली बार स्त्री के रूप में जन्म ले सकता है; कभी एक धर्म में तो अगली बार किसी अन्य धर्म में जन्म ले सकता है; किसी जन्म में धनवान, तो दूसरे में निर्धन हो सकता है। ईसा मसीह द्वारा वर्णित पूर्णता की अवस्था में पहुँचने तक मनुष्य क्रम-विकास के पथ पर चलता रहता है। मनुष्य ठीक उसी प्रकार अपना शरीर बदलता रहता है, जिस प्रकार वह हाथों में दस्ताने पहनता है, परन्तु उसके फट जाने पर पुन: वह दूसरा खरीद लेता है। शॉपेनहावर, इमर्सन, वाल्ट ह्विटमैन, गेटे, ब्रूनो, प्लोटिनस और प्लेटो सदृश प्रमुख पाश्चात्य चिन्तकों ने पुनर्जन्म के नियम में विश्वास किया था।"

अटलांटिस - जलमग्न होने से पूर्व का संसार

व्यक्ति अपने वर्तमान या आगामी जन्मों में कर्मफल भोगने को बाध्य है। परन्तु यह उस गेंद के समान नहीं है, जो दीवार की कठोर सतह पर से टकराकर तत्काल वापस आ जाती है। कर्म की प्रतिक्रिया तात्कालिक नहीं होती। कैसी का कहना है कि कर्म के प्रभाव प्रकट होने में कई जन्म लग सकते हैं। समय, स्थान और परिस्थिति अनुकूल होने पर ही कर्म का फल मिलता है। जहाँ आज अटलांटिक महासागर लहरा रहा है, कोई ९५०० वर्षों पूर्व वहीं एक समृद्ध संस्कृति थी। इस अटलांटिक संस्कृति के महान् वैज्ञानिकों ने मानव इतिहास के विगत २०० वर्षों के दौरान पुन: जन्म लिया है। आज का विज्ञान इस अटलांटिस संस्कृति के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहता, परन्तु विख्यात पाश्चात्य दार्शनिक व लेखक प्लेटो इस संस्कृति के अस्तित्व के प्रबल समर्थक थे। भूगर्भीय साक्ष्य भी इस अनुमान का समर्थन करते हैं। अटलांटिक महासागर में टेलीफोन के तार बिछाते समय वह १०,००० फुट नीचे तक गया था। जब उन तारों को पुन: ऊपर उठाया गया तो उन पर लावा के कण मिले। वैज्ञानिकों ने लावा-कणों के परीक्षण के बाद पाया कि भूकम्प से पूर्व वे किसी ठोस पदार्थ के भाग रह चुके थे। मध्य अमेरिका और मिस्र की मूर्ति-कलाओं और भाषाओं के बीच साम्य भी इस सभ्यता के अस्तित्व की ओर इंगित करता है। कैसी ने अपनी बात कहने के अनेक वर्षों बाद इग्नेटिमस डोनली का 'अटलांटिस – जलमग्न होने से पूर्व का संसार' नामक शोध-ग्रन्थ पढ़ा। वह अपने कथन और इस पुस्तक के अनेक रहस्योद्घाटनों के बीच साम्य देखकर चकित रह गया। जब इतिहास, विज्ञान, तुलनात्मक धर्म, प्राचीन महाकाव्य, कला, मनोविज्ञान के क्षेत्र के अनेकानेक अधुनातन अनुसन्धानों से उसके कथनों की सत्यता प्रमाणित होने लगी, तो कैसी अपनी सम्मोहन अवस्था के कथनों की सत्यता के बारे में पूर्णत: आश्वस्त होने लगा।

यदि हम कैसी के कथनों पर विश्वास करें, तो अटलांटिक सभ्यता निश्चय ही विद्यमान थी। उसका दृढ़ मत है कि यदि महान् पिरामिडों के भीतर के सभी प्रकोष्ठों का परीक्षण किया जाय, तो इस सभ्यता-विषयक साक्ष्य मिल सकते हैं। इसका कारण यह था कि ९५०० ईसा पूर्व में महान् जल-प्रलय में अटलांटिस के डूब जाने के बाद वहाँ के जीवित बचे निवासी अपना सामान लेकर मिस्र चले आये। फ्लोरिडा में स्थित बिमिनी द्वीप अटलांटिस की भूमि का सर्वोच्च पर्वत शिखर था। वह सौर ऊर्जा उत्पन्न करने के लिए स्फटिक शिलाओं द्वारा निर्मित एक मन्दिर का आधार था। चुनौतीपूर्ण स्वर में कैसी कहता है कि यदि कोई सागर की तलहटी में तलाश करे तो इसके ढाँचे का पता लग सकता है और यह अटलांटिस के अस्तित्व का एक अकाट्य प्रमाण होगा।

विज्ञान के युग का पुनरोदय

कैसी के कथनानुसार अटलांटिस सभ्यता के निवासी हमारी आज की वैज्ञानिक प्रगति की अपेक्षा भी काफी अधिक उन्नति कर चुके थे। वे वैज्ञानिक शोध और विद्युत, सौर तथा परमाणु ऊर्जा के क्षेत्रों में बेहतर ज्ञान से सम्पन्न थे। वे रेडियो, टेलीविजन, हवाई जहाज, पनडुब्बी तथा यातायात तथा संचार के साधनों का प्रयोग करते थे। कैसी ने बताया, "तकनीकी शक्ति ने उन्हें उद्धत बना दिया था। और वे अपनी दैहिक इच्छाओं की पूर्ति तथा भौतिकवादी सुख-सुविधाओं की प्राप्ति के लिए इन शक्तियों का दुरुपयोग करने लगे। वे हजारों लोगों का शोषण करके भ्रष्टाचार तथा अनैतिकता की प्रतिमूर्ति बन गए। धरती माता उनके पापों के भार को सह नहीं सकीं। वे काँपने लगी, समुद्र में तरंगें उठीं और भूमि को निगल लिया। इस प्रकार वह महान् सभ्यता समुद्र में डूब गई।"

यदि हम कैसी की बातों पर विश्वास करें, तो इस प्राचीन सभ्यता के लोगों को अपने स्वभाव, कर्म और व्यवहार में अभिव्यक्त बुराई के फल भोगने में कई युगों के समय की जरूरत पड़ेगी। अटलांटिस सभ्यता के लोगों के बारे में कैसी ने जो कहा कि उनमें से अनेक इस युग में पुन: प्रकट हो गये हैं, यह तथ्य उनके कथन के निहितार्थ को समझने में हमारी सहायता करेगा। यदि कोई कहे कि उसने अपनी जिह्वा पर नियंत्रण कर लिया है, तो हम इसका सत्यापन कैसे करते हैं? क्या यह सत्य नहीं है कि यदि उसके प्रिय खाद्य-पदार्थ उसके सामने रखे जायँ, तो स्वस्थ होने के बावजूद वह उनके प्रति प्रलोभित होगा? अटलांटिस सभ्यता के लोग वैज्ञानिक प्रगति के शिखर तक जा पहुँचे थे, पर उन्होंने अपनी सारी शक्तियों का दुरुपयोग किया। यह जानने के लिए कि दुबारा अवसर मिलने पर क्या वे अपनी शक्तियों का रचनात्मक उपयोग करेंगे, उन्हें पुन: ऐसी सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिए। अब ऐसे जाँच-पड़ताल करने के अवसर उपलब्ध हैं। इस प्रकार कैसी

यह समझाते हैं कि कर्मों के प्रभाव के क्रियमाण होने के लिए किस प्रकार शताब्दियों के समय की जरूरत होती है।

आकाशीय विवरण

यह सब ज्ञान कैसी को कहाँ से मिला? उसने सम्मोहन की अवस्था में प्राप्त ज्ञान के दो स्रोतों का वर्णन किया था। प्रथम था व्यक्ति का अवचेतन मन। यदि कैसी से किसी व्यक्ति के पूर्वजन्मों के बारे में पूछा जाता, तो वह अपनी विशेष शक्ति की सहायता से उस व्यक्ति के अवचेतन मन में झाँक सकता था। हमारे मन द्वारा एकत्रित अनुभव क्रमशः चेतन मन से लुप्तप्राय हो जाते हैं, परन्तु वे अवचेतन मन की गहराइयों में सोये रहते हैं। केवल इस जीवन के ही नहीं, अपितु सभी पूर्वजन्मों के अनुभव, तहखाने के खानों में सावधानीपूर्वक रखे हुए आभूषणों की भाँति अवचेतन मन में प्रसुप्त पड़े रहते हैं। ये अनुभव बहुत भीतर की गहराई में सोये रहते हैं और उन्हें पुनः क्रियाशील बनाना आज के मनोवैज्ञानिकों की क्षमता के परे है। लोग जानते हैं कि न्यूयार्क में एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने के लिए यातायात के अन्य साधनों की अपेक्षा भूमिगत ट्रेन अपेक्षाकृत आसान होता है। कैसी का कहना है कि एक चेतन मन से अचेतन मन की ओर जाने वाले मार्ग की अपेक्षा एक अवचेतन मन से दूसरे अवचेतन मन की ओर जाने का मार्ग कहीं अधिक आसान होता है।

इस व्याख्या को स्वीकार करना कठिन नहीं है। आज के मनोवैज्ञानिक किसी को भी सम्मोहित करके, उससे प्रश्न करके ऐसे विवरण प्राप्त कर सकते हैं, जिसे वे उसकी चेतन दशा में प्राप्त कर पाने में समर्थ नहीं होते। ४० वर्ष का कोई व्यक्ति सामान्यतः अपने बचपन की घटनाएँ याद नहीं रख पाता, पर विशेषज्ञों द्वारा उत्पन्न सम्मोहन की अवस्था में वह बालक की भाँति तोतली बोली तथा सीमित शब्दावली में अपने बचपन की घटनाओं को बता सकता है। अतः यह स्पष्ट है कि अनुभूतियाँ अवचेतन मन में छिपी रहती हैं। परन्तु कैसी द्वारा वर्णित विवरण का एक अन्य स्रोत विचित्र और रहस्यमय है। सम्मोहित अवस्था में कैसी कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग करता था, जिनसे वह जाग्रत अवस्था में अनभिज्ञ था। उनमें से एक था – 'आकाशीय विवरण'। उसने संस्कृत शब्द 'आकाश' की भी व्याख्या की, जो ब्रह्माण्ड की सृष्टि में एक आधारभूत तत्त्व है। यह संरचना में ईथर की भाँति वैद्युत-आध्यात्मिक है। सभी आवाजें, प्रकाश-किरणें, गति, विचार, एक फोटोग्राफी फिल्म की तरह इसी में अमूर्त रूप में अंकित रहते हैं। विराट् 'आकाश' ब्रह्माण्ड की सृष्टि के आरम्भ से ही उसकी समस्त घटनाओं का द्रष्टा है। यद्यपि हर व्यक्ति में इन घटनाओं को देखने और वर्णन करने की अन्तर्निहित क्षमता विद्यमान है, तथापि केवल अतीन्द्रिय क्षमता से सम्पन्न लोग ही उसे जान सकते हैं। जैसे अपेक्षित तरंग-दैर्घ्य पर ही रेडियो मिलाया जा सकता है, वैसे ही अपनी इन्द्रियों तथा मन के ब्रह्माण्डीय चेतना के विभिन्न स्तरों से जुड़ जाने पर हम सब कुछ देखने में समर्थ हो जाएँगे। कैसी सम्मोहन अवस्था में अपनी भौतिक चेतना को दबाकर, अपने अवचेतन मन को ब्रह्माण्डीय चेतना के साथ जोड़ सकता था। इसलिए वह विश्व के सूक्ष्माति-सूक्ष्म तथ्यों को देखकर उनकी व्याख्या कर सकता था।

कारण और कार्य की सुसंगति

कैसी के कथनों का उद्गम चाहे जो भी रहा हो, हम आज भी पुनर्जन्म-विषयक उसके कथनों का परीक्षण करके तदनुसार एक उचित निष्कर्ष पा सकते हैं। १९२३ में पूर्वजन्म-विषयक अपने कथनों की शुरुआत से लेकर १९४५ ई. में अपनी मृत्यु तक कैसी ने पूर्वजन्मों के करीब २५०० मामलों का सन्दर्भ दिया था। ये कथन प्रामाणिक हैं। इन कथनों में उसने लोगों की भौतिक अवस्था तथा अन्य विवरण भी दिये हैं। पूर्वजन्मों के ये वृत्तान्त भी सावधानीपूर्वक सुरक्षित रखे गए हैं। इन वृत्तान्तों के बारे में जिज्ञासा रखनेवाले लोग आज भी इसे संयुक्त राज्य अमेरिका के वर्जीनिया तट पर पा सकते हैं।

कैसी के जीवन के अन्तिम वर्षों के दौरान, असंख्य लोग अपने दुख-कष्टों से राहत पाने हेतु उससे परामर्श लेने के लिए आने लगे, क्योंकि तब तक उसका नाम दूर दूर तक फैला हुआ था। लोग कैसी से परामर्श हेतु डेढ़ वर्ष की अवधि तक भी अपनी बारी की प्रतीक्षा करते रहते। अतिशय पीड़ित लोगों के अनुनय-विनय को सुनकर वह करुणार्द्र होकर 'न' कहने में असमर्थ रहता। एक ही दिन में आठ आठ बार तक सम्मोहन अवस्था में जाकर वह समस्याओं के बारे में बताया करता था। उससे उसका स्नायु-तंत्र बुरी तरह प्रभावित हो गया। सतत परिश्रम ने उसे दुर्बल बना दिया था। ३ जनवरी, १९४५ ई. को ६७ वर्ष की आयु में कैसी की मृत्यु हो गई। कैसी का संदेश था – "जैसा बोओगे वैसा काटोगे।"

कैसी के कथनों से एक बात असन्दिग्ध रूप से सिद्ध हो गई कि कार्य-कारण का सम्बन्ध भौतिक जगत् तक ही सीमित नहीं, बल्कि यह एक ऐसा अपरिहार्य नियम है, जो दार्शनिक-नैतिक जगत् में भी व्यवस्थित, पर अबोधगम्य रूप से क्रियाशील रहता है। मानव-जीवन के दुख और संकट संयोग मात्र नहीं हैं। व्यक्ति के जन्म तथा उसकी क्षमताओं के बीच के भेद ईश्वर नामक एक मनमौजी सृष्टिकर्ता की सनक के कारण नहीं होते और न वंशानुगत प्रभावों से ही। यह मुख्यतया व्यक्ति के पूर्व जन्मों में उसके द्वारा किए हुए भले-बुरे कर्मों के द्वारा सुनिश्चित होते हैं। कैसी ने बताया कि सुख-दुख तथा अन्य प्रतिकूलताओं का उद्देश्य है व्यक्ति के आध्यात्मिक रूपान्तरण की प्रक्रिया के द्वारा उसे पूर्णता के शिखर पर ले जाना। ❖ **(क्रमशः)** ❖

मानवता की झाँकी (१३)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी ने 'मानवता की झाँकी' नाम से अपने भ्रमण के दौरान हुए उत्कृष्ट अनुभवों को लिपिबद्ध किया था, जो रामकृष्ण कुटीर, बीकानेर से प्रकाशित हुई। इन प्रेरक व रोचक घटनाओं को हम क्रमशः प्रकाशित कर रहे हैं। – सं.)

अमरनाथ-यात्रा की दिव्य स्मृतियाँ

(गतांक से आगे)

चढ़ाई में सबको तकलीफ हुई, पर गुफा में श्री अमरनाथ के हिमलिंग का दर्शन तथा पूजन करके सभी परम आनन्दित हुए। संन्यासी भी कौपीन-मात्र धारण किये पास के झरने में खूब स्नान करके, फिर अमरनाथ का दर्शन-स्पर्शन कर दिव्य आनन्द से परिपूर्ण हो गया। बाहर निकलकर ऊपर आकाश की ओर देखा कि कबूतर – जिसमें सफेद-काले-भूरे कबूतर भी थे, उड़ रहे हैं, चक्कर मार रहे हैं। संन्यासी ने देखा और मण्डली के सभी को दिखाया, साथ एक जलमुर्गी और एक चील भी थी! सब लोग वापस शिविर की ओर चले, जब उस पहाड़ी की चोटी पर चढ़े, तो देखा कि वह कालाबाग वाला चोटी पर एक अन्य वृद्ध के साथ बैठा है और हाँफ रहा है। – "अरे आप यहाँ तक चढ़ आए हैं, खैर अब तो गुफा तक उतार है, खास तकलीफ नहीं होगी, पर लौटते वक्त फिर चढ़ाई है। देरी हो गई है, सब आदमी लौट रहे हैं, शायद आप वहाँ तक जाकर आते आते कोई भी नहीं रहेगा। अब पहुँच जाइए!" – ऐसा कहकर संन्यासी भी चल दिया।

वे सज्जन इतना हाँफ रहे थे कि उनमें उस समय बोलने की शक्ति नहीं रह गयी थी। संन्यासी मन-ही-मन सोचने लगा – इन्होंने बहुत साहस किया है, मर न जायँ तो ठीक, आदि आदि। मण्डली के सब-के-सब ने वापस तम्बू में बैठकर रोटी खा ली और आराम करने लगे, पर वह कालाबाग वाला तो शाम तक नहीं आया। अब चिन्ता होने लगी। इतने में जो वृद्ध साथ था, उसने आकर खबर दी कि अमरनाथ का दर्शन कर वापस उस चोटी तक तो चढ़ गया था, पर वहाँ बेहोश हो गया है और वहाँ दूसरा कोई आदमी नहीं है जिसकी मदद ली जा सके, उसे छोड़कर आना पड़ा, क्योंकि शाम होने लगी थी, रास्ता सूझेगा नहीं, आदि आदि। वृद्ध तो कब का आया हुआ था, पर खा-पीकर बाद में खबर देने को आया। मण्डली के सब चुप बैठे रहे, कोई न कुछ बोला, न जरा हिला-डुला। संन्यासी और पंजाब के चार सन्त एक छोटे तम्बू में अलग ठहरे थे, वे भी सुनकर चिन्तित हुए कि क्या किया जाय? उन चार में से एक थे लखपति महंतश्री, एक डेढ़ पैरवाला लंगड़ा, एक भारी शरीर – निकम्मा था और एक जो सबल था। संन्यासी ने जब देखा कि मण्डली का कोई भी गृहस्थ न कुछ बोलता है और न उठता है, तब सबल सन्त को कहा – "चलिए हम जायँ, शायद अब भी जिन्दा होगा तो ठीक, नहीं तो उठाकर लाना पड़ेगा, है तो भारी शरीर ढाई मन का, लुई ले लीजिए, उसमें उठाकर लाया जाएगा। हम संन्यासी हैं, हम यदि वैसे चुप बैठे रहे तो शरम की बात होगी, परोपकारार्थ जीवन है; विपदग्रस्त, आफत में आ पड़े की सहायता करना तो मनुष्य धर्म है और सन्तों का प्रथम कर्तव्य है, चलिए हम चलें, उन सबको कहने की आवश्यकता नहीं, चलिए!" वह सन्त तैयार हो उठ खड़ा हुआ और दोनों जने तम्बू से निकल पड़े, हाथ में पहाड़ी लाठी। दो-चार कदम ही निकले होंगे कि वयोवृद्ध श्री हरिशा सहसा दौड़े आए और संन्यासी का पैर पकड़ लिया, "नहीं, आपको नहीं जाने दूँगा।" – "लेकिन भगतजी, वहाँ जब एक आदमी मर रहा है, ऐसे समय में हठ करना अनुचित है। जाने दीजिए, यह काम हम सन्तों का है, आप छोड़ दीजिए।" पर भगतजी ने तो सुना ही नहीं, वही एक बात – आपको नहीं जाने दूँगा। साथी पंजाबी सन्त ने क्रुद्ध होकर उन्हें कुछ सुना भी दिया, पर वे टस-से-मस नहीं हुए। तब संन्यासी बोला, "क्या आप खुद जाना चाहते हैं?" – "हाँ, आप मत जाइए।" – "तो ठीक है, आप जाइए।"

बस भगतजी लुई व लकड़ी लेकर चल दिए। साथ में मण्डली में से कोई भी नहीं गया। पंजाबी सन्त ने कहा, "यह बुड्ढा बहुत हठ करता है। बस जो दिमाग में आया वही करता है, किसी की नहीं सुनता; अब सोचिए, वह उतने वजनदार शख्स को कैसे उठा लाएगा? आपने चुप रहने को कहा इसलिए चुप रहा, नहीं तो और भी सुना देता।"

– "पर महाराज, उससे समय ही तो नष्ट होता, क्योंकि वह तो सुननेवाला न था। अच्छा हुआ कि वह चला गया, चलो हम भी चलें, क्योंकि मदद की जरूरत अवश्य होगी।"

कुहासा बहुत था, ५-७ हाथ दूर की वस्तु भी नजर नहीं आती थी, "भगतजी हमें देख नहीं पाएँगे, जल्दी चलिए।"

दोनों जब मुश्किल से पहाड़ के आधे भाग ही उठ पाये थे, (क्योंकि रास्ता बहुत खराब हो गया था और रुक-रुककर वर्षा भी हो रही थी, वह पगडण्डी इतनी कीचड़ तथा फिसलन-भरी हो गई थी कि खूब सावधानी से पैर रखना पड़ता था, अन्यथा एकदम नीचे नदी में गिरने का खतरा था।) तभी 'धड़-धड़-धड़-धड़' की आवाज सुनकर चौंके और देखने लगे कि क्या बात है। देखते-ही-देखते वह आवाज बिल्कुल पास से होकर नीचे की ओर चली गयी, "अरे भगतजी, ठहरिए ठहरिए!"

– "नहीं, नहीं, मत पकड़िए, मत पकड़िए, गिर पड़ेंगे।" कहते हुए भगतजी नीचे सड़क पर जा पहुँचे और दोनों जन मुश्किल से उतर सके। – "क्यों आये आप? अगर आप लोग बीच में धरने की कोशिश करते, तो दोनों ही मरते।"

कालाबाग-वाला बेहोश था। पहाड़ी लोग जैसे पीठ पर बोझ बाँधते हैं या बच्चे को लेते हैं, वैसे ही भगतजी ने उसे लुई से बाँधकर उठा लिया था और धड़ धड़ नीचे उतर पड़े। ढाई मन का बोझा उठाए ७२ वर्ष उमर का वृद्ध! कितनी हिम्मत, कैसा बलवान! संन्यासी तथा साथ के पंजाबी सन्त तो दंग रह गए। इस वृद्ध श्री हरिशा ने वह काम कर दिखाया, जिसकी कल्पना भी करना मुश्किल है। धन्य हो भगतजी! फिर संन्यासी के कहने पर भगतजी सहमत हुए कि अब सपाट भूमि पर वैसे पीठ पर लादकर चलना कष्टकर होगा, अतः लुई में सुलाकर लकड़ी डाल झोला जैसा बना, एक तरफ भगतजी और एक तरफ दोनों जन ने पकड़कर उठा लिया और अँधेरे में मुश्किल से तम्बू पर पहुँचे, जय भगवान!

बेहोश था, पर जीने की आशा थी। अग्नि चेताकर खूब सेंक करने पर दो घण्टे बाद होश में आया, संन्यासी गरम चाय पिलाने को कहकर अपने तम्बू में जाकर सो गया, दूसरा सन्त पहले जाकर सो गया था, भगतजी भी अग्नि सेंकते थे, पर किसी से एक शब्द भी न बोलकर गम्भीर बैठे थे। संन्यासी लेटा ही था कि भगतजी हाजिर हुए, बस वही काम, पैर दबाना, शरीर मसलना।

– "भगतजी आज भी! जाइए सो जाइए, आराम करिए।"

पर कौन सुनता? अन्य सन्त जो थे, सब-के-सब कुछ गरम होकर ही कहने लगे।

– "हठ छोड़ दीजिए, यह क्या समय है पैर दबाने का?"

पर भगतजी तो अपना काम करते ही रहे। फिर धीरे से संन्यासी को कहा – "आप क्यों गए?"

– "पर भगतजी, हम तो संन्यासी ठहरे, यह काम हमारे लिए उचित है, अगर हम इसमें खत्म भी हो जायँ, तो रोने-पीटनेवाले कोई भी नहीं, किसी की हानि नहीं।"

– "आप बहुत स्वार्थपर हैं।"

– "क्यों? कैसे?"

– "ऐसा अवसर आपको बहुत मिलेगा, पर मुझे फिर कब मिलेगा? ऐसे संकट में एक साथी की मदद में जाने का मौका हमेशा थोड़े ही मिलता है? और पवित्र तीर्थ में? यदि मैं इसमें मर भी जाता, तो जन्म सुधर जाता, धन्य हो जाता, पर आप स्वार्थी हैं, आप मुझे इस काम से वंचित करना चाहते थे।" संन्यासी से रहा न गया, उठकर भगतजी को छाती से लगाया और इस स्पर्श से स्वयं को ही धन्य समझने लगा। कितना उच्च भाव! उनमें पूरी मानवता की झाँकी ही मिल गई।

अमरनाथ-दर्शन के बाद और यात्रियों के साथ मण्डली श्रीनगर लौटी और दो-तीन दिन आराम करके नाव में क्षीर-भवानी देवी के दर्शनार्थ रवाना हुई। संन्यासी के कहने पर श्रीनगर से नाव ऐसे समय छोड़ी गई कि रात में उलर सरोवर पहुँचे। मण्डली के प्रायः सभी सदस्य व्यापारी थे, अतः समझे नहीं कि चाँदनी में उलर जाने का क्या उद्देश्य है, पर बाधा नहीं दी। जब आधी रात को नाव उलर पहुँची, तो भगत हरिशाजी को छोड़ बाकी सब सो रहे थे। अहा, वह दिव्य अवर्णनीय सौन्दर्य अनुभव का विषय है, कवि भी वर्णन करने में असमर्थ होंगे! दूर में तुषार-मण्डित पर्वत श्रेणी, ठीक पर्वत के नीचे – देवदार वृक्षों की – सुन्दर देवालय के शिखर-सदृश शोभा – चाँदनी में पत्ते ऐसे चमक रहे हैं, मानो मन्दिरों में दीपमाला ज्वल रही हो! उलर ह्रद का पानी नील – स्वच्छ, चाँदनी में चक-चक चमक रही है, छोटी छोटी लहरें, चारों और सुन्दर लाल कमलों की शोभा – और बीच में से धीर गति से नाव चल रही है। चारों दिशाएँ निःशब्द हैं, मानो ध्यानमग्न हों!

सबको जगाया गया, यह दिव्य सौन्दर्य आँख से देख तो लें! नाववाले को एकदम धीरे चलाने को कहा गया। सबको चुप बैठकर यह अपूर्व दृश्य निरीक्षण करने को और अन्तर में भगवान की स्तुति करने को कहा गया। घण्टों सब चुपचाप आश्चर्यमुग्ध हो प्रभु-स्मरण में बैठे रहे। वह दृश्य चले जाने के बाद कहा, "अगर हम इस वक्त यहाँ न आते, तो इससे वंचित रह जाते। स्वामीजी आपने हम लोगों को अपूर्व दृश्य दिखाया, जो लगता था कि इस लोक का नहीं है। ईश्वरीय सृष्टि में कैसी कैसी बातें हैं! प्रकृति देवी ने कैसी कैसी दिव्यता बना रखी है! – यह बात इस अपूर्व लीला के दर्शन बिना समझ में नहीं आ सकती," आदि आदि बहुत-से उद्‌गार वे लोग अपनी अपनी भावना तथा समझ के अनुसार प्रगट करने लगे।

नाव सुबह क्षीरभवानी के पास जा पहुँची, नहर से जा रही थी, अटक गयी। नाव बड़ी थी, लोग भी काफी थे, नाववाले ने सूचना दी, इतना भार लेकर नहीं जाएगी, उतरना पड़ेगा। दो-तीन लोगों को छोड़ बाकी सब उतर पड़े और धान के खेत की मेड़ से होकर चलने लगे। एक जगह पर छोटा-सा नाला आया, सब तो कूद-कूदकर पार उतर गए, पर भगत श्रीहरिशा जी कूद नहीं सके। पानी हाथ भर भी नहीं मालूम होता था और अन्दर गोबर सड़ने जैसा होता है वैसा दिखता था। भगतजी ने जैसे ही पैर रखा कि भस् करके लगभग पूरा पैर ही अन्दर घुस गया, दूसरा पाँव ऊपर जमीन पर टिका था। बड़ी कठिनाई से उनको खींचकर निकाला गया (भगतजी का वजन साढ़े तीन या चार मन रहा होगा। वे छह फुट विशालकाय, पर सौम्य-दर्शन थे)। तब संन्यासी ने एक युक्ति आजमाने को कहा – घास की बहुत-सी बड़ी बड़ी चटाइयाँ जैसी पड़ी थीं, उन्हें उठा-उठाकर नाले में डाल दिया गया, इससे भगतजी पार उतर

सके। फिर वैसी ही चटाइयों पर पैर रख-रखकर और अन्त में धान के ऊपर पैर रख-रखकर सभी गाँव में पहुँचे। खेतीवाला तो लड़ने के लिए तैयार हुआ। उसे दो रुपये देकर ठण्डा किया गया। जमीन के दो हाथ नीचे ही पानी, कहीं हाथ भर ही मिट्टी है, इस कारण धरती डगमगा रही थी, डूबने के खतरे से बचने के लिए वैसा करना पड़ा। बाद में पता चला यह सब दलदल जमीन है, नीचे कहीं कहीं बीस हाथ पानी है। अनजान के लिए बहुत खतरनाक! पानी पर दल-घास जम-जमकर वर्षा में यह जमीन हुई है, घास पर बर्फ गिरने से वहीं जम जाता है और उस पर चटाई-जैसी बाँधी जाती है। और उसके ऊपर बड़ी होशियारी से खेती की जाती है। काश्मीर की घाटी में बहुत-सी जमीन ऐसे ही हुई है। कहीं कहीं तो 'फ्लोटिंग गार्डेन' - तैरती हुई जमीन के टुकड़ों पर शाक-सब्जी, टमाटर, लौकी आदि बोते हैं और खूब फलता है। नाव पर बैठ-बैठकर फसल उठाना पड़ता है, कभी कुल्हाड़ी से काटकर बीच में से नाव ले जाने का मार्ग बना लेते हैं और बाँस बाँधकर वैसे टुकड़ों को कब्जे में रखते हैं, नहीं तो जोर हवा से बह जाय और कोई कब्जा भी कर ले। इस तरह से जमीन की चोरी भी हुआ करती है, कोई दूर खींच ले जाकर अपनी जमीन बना लेता है।

देवी क्षीरभवानी का दर्शन तथा पूजन कर भोजन के बाद फिर नाव में अन्य रास्ते से श्रीनगर के लिए रवाना हुए। सब आनन्द में थे। यहाँ संन्यासी ने स्वामी विवेकानन्द जी के दिव्य-दर्शन तथा देववाणी सुनने की घटना बताई। दुर्वृत्त विधर्मियों ने यह मन्दिर तोड़ डाला था। स्वामीजी जब क्षीर-भवानी के दर्शनार्थ आये थे, तो उनके मन में ऐसा आया था कि उस समय यदि वे स्वयं उपस्थित होते, तो प्राण देकर भी मन्दिर की रक्षा करते। तभी – "मैं तेरी रक्षा कर रही हूँ या तू मेरी? मैं चाहूँ तो इधर अभी सोने का मन्दिर बनवा लूँ।" उन्होंने यह दैवी वाणी सुनी और उनके विचारों में आमूल परिवर्तन आया – ऐसा उनकी बृहत् जीवनी में उल्लिखित है।

श्रीनगर से पुनः बारामूला। वहाँ श्री सन्तसिंह जी के आतिथ्य में पाँच दिन ठहरना हुआ। संन्यासी ने सधन्यवाद यह कहते हुए उन्हें कम्बल लौटा दिया – "इस कम्बल ने ही वर्षा में बचाया, गीली जमीन पर भी इसमें पानी का असर नहीं हुआ। बहुत काम दिया, अब तो नीचे गर्मी है, इसका काम नहीं है, यहाँ और किसी के काम में आवेगा।"

बारामूला से सड़क पर चलते हुए मण्डली मूरी पहाड़ पहुँची। रास्ते में किसी को भी किसी प्रकार की तकलीफ नहीं हुई। मण्डली में से सात लोग कम भी हुए थे। किसी की तबीयत नरम, तो किसी ने किसी खास व्यापारिक काम आदि कारणों से, इन सातों ने चलते ही रावलपिंडी लौटने का विचार छोड़ दिया था, तथापि दृढ़ संकल्पवाले १६-१७ जन मण्डली में रह गए थे। श्रीनगर से भी कई जन बस में लौट गए।

मूरी में ७-८ दिन ठहरने का विचार था, पर कोई ठीक जगह न मिलने से एक रात ठहरकर ही नीचे उतरे। नीचे पहाड़ी की तराई में रामकुण्ड नामक एक रमणीय स्थल है, जहाँ अनेक सुन्दर चश्मे हैं और पानी बड़ा अच्छा है। वहीं ठहरने का निश्चय हुआ। मूरी भी सिमले जैसा सुन्दर स्थान है और पानी भी अच्छा है। मूरी पहाड़ से उतराई शुरू होती है और सड़क एकदम समतल भूमि पर आ जाती है। जब नीचे उतरे, तो संध्या हो चुकी थी और जो व्यक्ति छोटे-संक्षिप्त मार्ग से रामकुण्ड ले जाना चाहते थे, वे रास्ता भूलकर अन्य दिशा में ही ले गये। शाम का समय, अपरिचित स्थल और प्रत्येक के पास पैसा भी था। अति साहस करना अनुचित है, अतः जो भी गाँव मिले, उसी में रात्रिवास करने का निश्चय करके आगे बढ़े। पाँच सौ से अधिक घरो की बस्तीवाला एक गाँव मिला। एक मुसलमान युवक बाहर सड़क पर खड़ा मिला – "क्यों जी, यहाँ कोई धर्मशाला या ठहरने की जगह है?" उसने जवाब न देकर – देखा और गाँव के अन्दर चल दिया। इससे सब घबड़ाए। यह शायद चोर-डाकुओं का गाँव होगा। कैसे चला गया, उत्तर भी नहीं दिया। संन्यासी ने कहा – "दो जने अन्दर जाकर किसी बुड्ढे से पूछ आइए।" इतने में दिशा-जंगल के लिए एक वृद्ध मुसलमान निकला। उससे पूछने पर पता चला कि गाँव में जाट मुसलमानों की ही बस्ती है, ठहरने की कोई जगह नहीं है, कोई जान-पहचान का हो तो ही शायद बन्दोबस्त कर दे। आप सब हिन्दू हैं, नहीं तो मस्जिद में जगह हो जाती, पर यहाँ इस गाँव में एक सिक्ख है. यदि वह ठहरावे तो देख लीजिए, इस रास्ते से सीधे गाँव के बिल्कुल किनारे उसका घर है। हाँ, आप लोग यहाँ बाहर मत ठहरना, खतरा है। यह अन्तिम शब्द सुनकर सब घबड़ाए (रामकुण्ड पहुँचने के बाद मालूम हुआ कि सब जनों के पास चार-पाँच सौ और एक जने के पास डेढ़ हजार रुपए थे।) पर दूसरा उपाय ही क्या था, उस सिक्ख के घर ही आश्रय लेना पड़ेगा। सब उसके घर जा पहुँचे। सिक्ख सज्जन दिया जलाकर गाय-भैंसों को चारा डाल रहा था। इत्तने आदमी देखकर वह घबराया, फिर जब हाल सुना, तो बोला, "दो-चार होते तो और बात थी, पर इतने जन हैं, कहाँ उतारें? दो ही कोठरियाँ हैं, गाय-भैंस हैं, अन्दर तो जगह है ही नहीं।" एक जने ने कहा, "क्यों, हम छत पर ही पड़े रहेंगे।" – "छत टूटकर नीचे गिरेगी। छत तो मिट्टी व नल की सली से बनी है, इतना बोझ न सहेगी। अवश्य टूटेगी।" संन्यासी ने कहा, "यदि छत के बीच में न जाकर दीवार पर एक एक कर लाइन लगा बैठ जायँ तो?" सरदार, "हाँ, वैसा करने पर तो हो सकता है, पर बैठे ही रहना होगा, आराम कर नहीं पाएँगे। और यह भी बात है कि गाँव बहुत खराब है, सब जाट मुसलमान हैं, खूनी डाकू हैं, आप सब सज्जन आए हैं, जगे न रहने से लूट भी लें, खून भी करें।

परमात्मा करें वैसा कुछ न हो, नहीं तो मेरी बदनामी होगी और जीवन भर अफसोस रहेगा। हम तो सदा हाथ में बन्दूक लेकर रहते हैं, खेती करते समय भी हाथ में बन्दूक ले जाते हैं। मेरी औरत भी बन्दूक हमेशा पास में ही रखती है। क्या करें बाप-दादे की जागीर है, जमीन अच्छी है, इसलिए पड़े हैं। मेरे दो चाचों और एक सम्बन्धी को भी इन लोगों ने मार दिया। इसलिए सावधान रहना पड़ता है। पर हाँ, अब ये जानते हैं कि मैं दो-चार को खत्म करके ही मरनेवाला हूँ, बन्दूक से उड़ाने में जरा भी हिचकिचाऊँगा नहीं, फिर चाहे जो भी हो जाय।''

अब छत पर चढ़ना था। एक पुरानी बाँस की सीढ़ी थी, उससे एक एक जन करके ऊपर चढ़ने लगे, बड़ी सावधानी से, क्योंकि सीढ़ी टूट जाने से रात में और कोई सहारा मिलने का नहीं। संन्यासी ने देखा सब चढ़ गए हैं, हरिशाजी बाकी हैं। – ''भगतजी उठिए !'' भगतजी हँसने लगे। डर रहे थे कि टूटकर नीचे ही पड़ेंगे। – ''अगर टूट जाय तो? आप और मैं दोनों नीचे बैठे रहेंगे, वे लोग ऊपर रहेंगे और क्या?'' भगतजी हँसकर धीरे धीरे चढ़ने लगे, सीढ़ी से तड़ तड़ आवाज होने लगी पर टिक गई, संन्यासी भी ऊपर गया। दीवार पर एक एक करके लाइन लगाकर बैठे, सबके हाथ में लकड़ी – सरदार बन्दूक लेकर आ गया – सरदारनी नीचे बन्दूक लिए बच्चों के साथ रही। कुछ देर तक सरदार से पूछताछ चली, बाद में सब चुप (कोई तो बैठे बैठे ही नींद ले रहे थे, उसे चेताना पड़ता था, क्योंकि गिरने से एकदम नीचे ही जाएगा।) चुप इसलिए कि, कई लोग इर्द-गिर्द घूम रहे थे, उसका आना जाना शंकास्पद था। सरदार तो बन्दूक पकड़कर देख रहा था, ''बेफिक्र रहिए, इधर कुछ इशारा करते ही उड़ा दूँगा।''

सब घबड़ाने लगे। अगर उड़ा दिया, तो आफत हो जाएगी, परेशान होना पड़ेगा। अगर सारे गाँववाले आक्रमण कर दें, तो सबके लिए मौत ही समझो। सरदार जी वैसा मत करिए, यदि आक्रमण करें तो बन्दूक चलाइएगा, शायद न भी करें, क्योंकि हम इतने आदमी जगे बैठे हैं।'' परन्तु वे देख-देखकर चले जाने लगे, दूर दूर ही रहे। किसी ने पास आने का साहस नहीं किया, क्योंकि वे जानते थे कि सरदार गोली ठोक देगा और यह भी देखते थे कि सब सजग बैठे हैं। किसी तरह से रात बीत गई, सुबह होते ही सब चलने को तैयार हो गए, परन्तु सरदार ने दूध पिलाकर ही जाने दिया और दूर तक साथ आकर रामकुण्ड का पथ बता दिया।

रामकुण्ड पाँच मील दूर ही था, वहाँ पहुँचकर चश्मे में खूब स्नान करके चश्मे के पास में स्थित श्रीराम जी के मन्दिर में दर्शनादि करने के बाद सब निश्चिन्त बैठे। सुन्दर एकान्त स्थल, पानी बहुत है, बाग-बगीचे भी खूब हैं। यह पहाड़ की एक खाई में स्थित है। सामने सूखी ऊँची ऊँची चट्टानें भ्रान्ति पैदा करती हैं, इस कारण दूर से पता नहीं चलता कि यहाँ इतना सुन्दर स्थल है। अब मण्डली का एक जन पुजारी से पूछने लगा – ''महाराज, यह मन्दिर किसने बनवाया?''

उत्तर – ''महाराजा मान्धाता ने। महाराजा मान्धाता एक बार इधर से काश्मीर जा रहे थे, साथ असंख्य सेना भी थी, जब यहाँ पहुँचे, तो प्यास के मारे परेशान हो गए। सब आदमी भी पानी पानी करने लगे। तब पानी इधर कहीं नहीं था। प्यास के मारे लोग छटपटाने लगे। महाराज स्वयं भी परेशान थे, कुछ सूझता नहीं था। उसी समय विश्वामित्र ऋषि इस रास्ते से कहीं जा रहे थे। उन्हें देखकर महाराजा आश्वस्त हुए और दण्डवत् प्रणामपूर्वक हाथ जोड़कर कहा, ''ऋषिजी, हम सब प्यास से मर रहे हैं, इधर कहीं पानी नहीं है, आप कृपया हमें बचाइए।'' विश्वामित्र जी बोले, ''क्यों, जहाँ खड़े हो, वहीं तो पानी है। तीर मारो अभी चट्टान फोड़कर पानी निकलेगा।'' वे तीर लगाकर मारने जा रहे थे, तब ऋषिजी ने कहा, ''राम कहकर बाण मारो।'' महाराजा ने वैसा ही किया, तो एकदम झरना निकल आया, वही यह रामकुण्ड है। फिर महाराजा स्वयं और उनकी फौज के सब आदमी भी जल पीकर तृप्त हुए। तब महाराजा ने पूछा – ''राम कौन हैं?'' ऋषि ने समझाया – ''तुम्हारे इस सूर्यवंश में ही राम जन्म लेंगे और रावण-वध करने से उन्हें ब्रह्महत्या का पाप लगेगा, तब उस पाप से मुक्त होने के लिए इसी स्थान पर तपस्या करने आएँगे। मैं सब कुछ जानता हूँ, पर आपको नहीं मालूम।'' महाराजा ने कहा, ''आप त्रिकालदर्शी सर्वज्ञ हैं, आपने जो कुछ बताया सब सच है, अब यह चश्मा आपके नाम से प्रसिद्ध होगा।'' पर ऋषि ने कहा – ''नहीं, जिस नाम से तुमको पानी मिला, उसी नाम से यह कुण्ड प्रसिद्ध होगा।''

एक भाई ने कहा – ''लेकिन पण्डित जी, मान्धाता तो बहुत पुराने हैं और विश्वामित्र तो बहुत बाद में हुए थे, श्री रामजी के समय में हुए थे।'' पण्डित जी गुस्से में आ गए – ''तुम लोग इतिहास-पुराण नहीं जानते, यहाँ पुरा-कथा सुनाई, तो मानते नहीं हो, यही तो मन्दिर का इतिहास है।''

संन्यासी ने देखा मन्दिर के द्वार पर एक शिलालेख है, जिसे चूना पोत-पोतकर ढँक दिया गया है। एक भाई दुबले और करीब ६ फुट लम्बे थे और वहाँ एक पैकिंग बाक्स भी पड़ा था, संन्यासी ने उनसे बाक्स पर चढ़कर देख लेने को कहा। थोड़ा-सा गीले कपड़े से साफ किया, तो उसमें लिखा था, ''जयपुर के महाराजा मानसिंह जी ने बनवाया।''

''क्यों पण्डित जी, आप तो कहते थे कि महाराजा मान्धाता ने बनवाया है, यहाँ तो मानसिंह जयपुरवाले का नाम है।''

पण्डित जी ने आँख उठा कर कहा, ''क्या आप संस्कृत जानते हैं। ठीक से पढ़िए।''

ये भाई संस्कृत ठीक ठीक जानते थे, गुस्से में आकर बोल उठे, "खुद जानते नहीं हो और आँख दिखाते शरम भी नहीं आती, हम लोगों को झूठी बातें बता रहे हो।"

मण्डली के कई लोगों को गरम होते देखकर संन्यासी ने चर्चा बीच में ही रोक दी और इतिहास की दृष्टि से समझाने की कोशिश की, "जयपुरवाले महाराजा मानसिंह ने इसी रास्ते काश्मीर पर आक्रमण किया होगा, यह जगह इतनी गुप्त है कि अगर हजारों फौजी आदमी यहाँ पड़ाव डाले हों, तो भी किसी को पता न मिले। और मानसिह जी श्रीराम-भक्त थे। जहाँ भी जाते और कुछ रोज ठहरते, तो श्रीराम या लक्ष्मण के नाम से मन्दिर, बावड़ी, तालाब, बाँध, आदि बनवाते थे। इतिहास न जानने से आदमी जैसी-तैसी गप्पें जोड़ लेता है, कालक्रम का भी ख्याल नहीं रखता। पुरोहितों की ऐसी बहुत-सी रचनाएँ हैं। जैसे कि हृषिकेश में भी कहते हैं कि श्रीराम-लक्ष्मण ने ब्रह्महत्या (रावण-वधजन्य) पाप से मुक्त होने के लिए तपस्या की थी। अब लीजिए, रावण को मारकर राम-लक्ष्मण ही तपस्या करते फिरे थे। पता नहीं, कहाँ से ये लोग जोड़ लेते हैं, और लोग मान भी लेते हैं। उन्हें क्या पता कि ऐसी बातें बनायी जाती हैं।"

पाँच दिन रामकुण्ड में ठहर कर नौ मील दूर रावलपिंडी वापस पहुँचे। जय भगवान! काश्मीर-यात्रा समाप्त हुई।

संन्यासी वहाँ (सरदार श्री बूटासिंह के) तपोवन में ठहरे, रामबाग में बहुत महात्मा उतरे थे, तपोवन कुछ दूर व जंगल में होने से खाली था। मण्डली के सब कोई खासकर भगत हरिशाजी विदा ले अपने अपने घर को चल दिए। भगत जी ने विदा लेते समय अश्रुपूर्ण नेत्रों से कहा, "महाराज, ईश्वरेच्छा होगी, तो फिर मिलेंगे। कभी हरिपुर (हजारा जिला) आइएगा, वहाँ जागीर है, कुटिया भी है, आनन्द आयेगा?"

भगत हरिशा जी उदार दाता थे, अपने गुरुदेव के लिए स्थान बनाने के लिए आप ने ही पहले डेढ़ लाख रुपये दिये थे। जागीर थी और रावलपिंडी में लोई आदि गरम कपड़े की दुकान थी। लाखों का व्यापार करते थे, पर एकदम निरहंकार। रावलपिंडी में आने के बाद ही संन्यासी को औरों से ये बातें मालूम हुई थीं, अपने मुँह से दान या ऐश्वर्य या व्यापार की बात वे कभी नहीं बोलते थे। संसार में ऐसे व्यक्ति दुर्लभ हैं।

❖ **(समाप्त)** ❖

(आगामी अंक से स्वामी जपानन्द जी की ही 'आत्माराम की आत्मकथा' का धारावाहिक प्रकाशन होगा।)

श्रीरामकृष्ण की बोध-कथाएँ

(कथाओं व दृष्टान्तों के माध्यम से अपनी बातें समझाने की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। श्रीरामकृष्ण भी अपने उपदेशों के दौरान अनेक कथाएँ सुनाते थे। यत्र-तत्र बिखरी इन मूल्यवान कथाओं को हम यहाँ धारावाहिक रूप से प्रस्तुत कर रहे हैं। – सं.)

– ८ –

भक्त जुलाहा और रामजी की इच्छा

किसी गाँव में एक जुलाहा रहता था। वह बड़ा धर्मात्मा था। इस कारण सभी लोगों का उस पर विश्वास और प्रेम-भाव था। जुलाहा बाजार में कपड़े बेचा करता था। खरीदारों द्वारा कीमत पूछे जाने पर वह कहता, "रामजी की इच्छा से सूत का दाम एक रुपया, रामजी की इच्छा से चार आने की मजदूरी, रामजी की इच्छा से दो आने मुनाफा और रामजी की इच्छा से कुल कीमत एक रुपया छह आने।" लोगों का उस पर इतना विश्वास था कि वे बिना कोई मोलभाव किये चुपचाप पैसे देकर कपड़े ले जाते। जुलाहा बड़ा भक्त था, रात को भोजन करने के बाद वह मन्दिर के बरामदे में बैठकर बड़ी देर तक ईश्वर का ध्यान और उनके नाम-गुणों का कीर्तन किया करता था। एक दिन उसे बड़ी रात तक नींद नहीं आयी। बैठे-बैठे बीच-बीच में वह तम्बाकू पीता था। उसी समय डकैतों की एक टोली उसी रास्ते से डाका डालने के अभियान पर निकली।

उन लोगों के पास माल ढोनेवालों की कमी थी। जुलाहे को देखकर उन लोगों ने उसे पकड़ लिया और बोले, "चल हमारे साथ।" मरता क्या न करता ! जुलाहे को जाना ही पड़ा। एक मकान में उन लोगों ने डाका डाला। कुछ माल जुलाहे के भी सिर पर लादकर वे लोग लौटने लगे। इतने में ही पुलिस आ गयी! डाकू भाग गये, सिर पर गठरी रखे केवल जुलाहा ही पकड़ा गया। उसे रात भर हवालात में रखा गया। अगले दिन उसे मजिस्ट्रेट साहब के कोर्ट में पेश किया गया। सूचना पाकर गाँववाले भी कचहरी में हाजिर हुए। उन लोगों ने न्यायाधीश से कहा, "हुजूर ! यह आदमी बड़ा धर्मात्मा है, कभी डाका नहीं डाल सकता।" न्यायाधीश ने जुलाहे से सब कुछ ठीक ठीक बयान करने को कहा।

जुलाहा बोला – "हुजूर ! रामजी की इच्छा से मैंने रात को रोटी खायी। फिर रामजी की इच्छा से मैं मन्दिर के बरामदे में बैठा हुआ था, रामजी की इच्छा से रात बहुत हो गयी। रामजी की इच्छा से मैं उन्हीं का नाम ले रहा था। उसी समय रामजी की इच्छा से डाकुओं का एक दल उस रास्ते से आ निकला। रामजी की इच्छा वे लोग मुझे खींचकर ले गये। रामजी की इच्छा से उन लोगों ने एक घर में डाका डाला। रामजी की इच्छा से उन लोगों ने मेरे सिर पर गठरी लाद दी। इतने में ही रामजी की इच्छा से पुलिस आ गयी। रामजी की इच्छा से मैं पकड़ा गया, तब रामजी की इच्छा से पुलिस ने मुझे हवालात में बन्द कर दिया। रामजी की इच्छा से आज सुबह मुझे हुजूर के सामने पेश किया गया है।'

उस जुलाहे की सरलता तथा धर्मप्राणता देखकर न्यायाधीश ने उसे मुक्त करने की आज्ञा दे दी। लौटते समय जुलाहे ने गाँववालों से कहा, "रामजी की इच्छा से मैं छूट गया।"

गृहस्थी करना या संन्यास लेना – सब कुछ रामजी की इच्छा से होता है, इसीलिए उन पर सब भार छोड़कर संसार में अपने कर्तव्य पूरे करते रहना चाहिए। गृहस्थ यदि जीवन्मुक्त हो जाय तो वह अनायास ही संसार में रह सकता है; जिसे ज्ञान की प्राप्ति हो गयी है, उसके लिए यहाँ-वहाँ नहीं है, उसके लिए सब बराबर है।

– ९ –

दोनों हाथ उठाकर नाचो

एक स्त्री की एक जुलाहिन के साथ मित्रता थी। एक दिन वह उससे मिलने गयी। जुलाहिन उस समय सूत कात रही थी – उसके घर में तरह तरह के रेशम के गोले बिखरे पड़े थे। सखी को आयी देखकर उसे बड़ी खुशी हुई। वह बोली – "आओ, तुम्हारा स्वागत है, तुम्हारे आगमन से मुझे बड़ा आनन्द हुआ है। जरा बैठो, मैं जाकर तुम्हारे लिए कुछ मिठाई ले आऊँ।" और यह कहकर वह थोड़ी देर के लिए बाहर चली गयी। इधर तरह तरह के रंगीन रेशम के धागे देखकर उस स्त्री को लालच हो आया और उसने झट कुछ गोले बगल में छिपा लिये। जुलाहिन शीघ्र ही मिठाई लेकर वापस लौटी और बड़े उत्साह के साथ उस स्त्री को खिलाने लगी, परन्तु थोड़ी देर बाद जब उसकी नजर अपने धागों पर पड़ी, तो वह समझ गयी कि इस स्त्री ने मेरे कुछ गोले दबा लिये हैं। अत: अपना रेशम वसुलने का उसने एक उपाय सोच निकाला।

जुलाहिन ने कहा – "सखि ! आज तो बहुत दिनों के बाद हम दोनों की मुलाकात हुई है। आज बड़े ही आनन्द का दिन है। मेरी बड़ी इच्छा है कि आज हम दोनों मिलकर खूब नाचें।" दूसरी स्त्री ने कहा, "आनन्द की तो बस पूछो ही मत। तुम्हें जब इच्छा हुई है, तो हम अवश्य नाचेंगी।" फिर दोनों स्त्रियाँ नाचने लगीं। पर जुलाहिन ने देखा कि वह स्त्री नाचती तो है, पर दोनों हाथ ऊपर उठाकर नहीं नाचती। तब उसने कहा – "आओ बहन, हम दोनों हाथ उठाकर नाचें – आज तो

बड़े आनन्द का दिन है ।'' परन्तु दूसरी स्त्री ने एक हाथ तो ज्यों-का-त्यों दबाये ही रखा और दूसरा हाथ उठाकर नाचने लगी ! तब जुलाहिन ने कहा – ''अरे यह क्या, देखो, मैं दोनों हाथ उठाये हूँ, तुम भी उठाओ ।'' परन्तु दूसरी स्त्री एक हाथ बगल में दबाए ही नाचती रही और बोली – ''भाई, जिसे जैसा आता है !''

यह कहानी सुनाने के बाद श्रीरामकृष्ण बोले, ''मैं बगल में कुछ दबाता नहीं, मैंने दोनों हाथ उठा दिये हैं, इसलिए मैं नित्य और लीला दोनों को स्वीकार करता हूँ। ... जो केवल ज्ञानी है, वह एक ही प्रकार के बहाव में पड़ा रहता है । बस यही सोचता रहता है कि यह नहीं, यह नहीं – सब कुछ स्वप्नवत् है ! पर मैंने दोनों हाथ ऊपर उठा दिये हैं, इसलिए मैं सब कुछ मानता हूँ ।''

– १० –

ईश्वर की कृपा से सब सम्भव है

एक घर में किसी को असाध्य बीमारी थी – अब-तब हो रहा था । किसी ने कहा – ''स्वाति नक्षत्र में बरसात का पानी अगर मुर्दे की खोपड़ी में गिरकर रुक जाय और एक साँप मेढ़क का पीछा करे, साँप द्वारा आक्रमण करने पर मेढ़क उछलकर खोपड़ी के उस पार चला जाय और साँप का विष उसी खोपड़ी में गिर जाय । यदि उसी विष की दवा बनाकर रोगी को दिया जा सके, तो वह बच सकता है ।''

जिसके घर में बीमारी थी, वह व्यक्ति दिन, मुहूर्त, नक्षत्र आदि देखकर घर से निकला और व्याकुल होकर यही सब खोजने लगा । मन-ही-मन वह ईश्वर को पुकारकर कहता रहा – ''हे ईश्वर ! तुम यदि सब कुछ एकत्र कर दो, तभी हो सकता है ।'' चलते चलते उसने देखा कि सचमुच ही एक मुर्दे की खोपड़ी पड़ी हुई है । देखते-ही-देखते थोड़ा पानी भी बरस गया । तब उसने कहा – ''हे गुरुदेव ! मुर्दे की खोपड़ी मिली और थोड़ा पानी भी बरस गया और उसकी खोपड़ी में जमा भी हो गया । अब कृपा करके और जो दो-एक योग हैं, प्रभो, क्यों न उन्हें भी पूरा कर दो !''

व्याकुल होकर वह सोच ही रहा था कि इतने में उसने देखा कि एक विषधर साँप चला आ रहा है । उसे बड़ा आनन्द हुआ । इतना व्याकुल हुआ कि छाती धड़कने लगी और कहने लगा, 'हे प्रभो, साँप भी आ गया है । कई योग तो पूरे हो गये । कृपा करके और जो बाकी हैं, उन्हें भी पूर्ण कर दो ।'' कहते-न-कहते मेढ़क भी आ गया । साँप मेढ़क का पीछा भी करने लगा । खोपड़ी के पास साँप ने ज्योंही झपट्टा मारा कि मेढ़क उछलकर उस पार चला गया और विष उसी खोपड़ी में गिर गया । तब वह आदमी तालियाँ बजाकर नाचने लगा ।

इसीलिए व्याकुलता के होने पर सब हो जाता है । ईश्वर की शरण में जाकर, व्याकुल होकर उन्हें पुकारने से वे अवश्य सुनते हैं और स्वयं सारे सुयोग जुटा देते हैं । ... कभी ऐसा भी होता है कि विवाह नहीं हुआ, सब मन ईश्वर पर चला गया । कभी यह होता है कि भाई रोजगार करते हैं, या एक लड़का तैयार हो जाता है, तो फिर उस व्यक्ति को स्वयं संसार का काम नही सम्हालना पड़ता, तब वह अनायास ही सोलहों आना मन ईश्वर को समर्पित कर सकता है । परन्तु बात यह है कि कामिनी और कांचन का त्याग हुए बिना कहीं कुछ नहीं होता । त्याग होने पर ही अज्ञान और अविद्या का नाश होता है । आतशी शीशे पर सूर्य की किरणों के पड़ने पर कितनी चीजें जल जाती हैं, परन्तु कमरे के भीतर छाया है, वहाँ आतशी शीशे के ले जाने पर यह बात नहीं होती । घर छोड़कर बाहर निकलकर खड़े होना चाहिए ।

– ११ –

उल्टा समझे राम

एक बैरागी साधु बहुत दिन तक विभिन्न तीर्थ-स्थानों का भ्रमण करते रहे । वे अपने तसले, लोटे-डोरी आदि के बोझ को स्वयं ही अपने कन्धों पर ढोया करते थे । एक दिन उन महात्मा ने सोचा – ''यदि कहीं से एक घोड़ा मिल जाता, तो मुझे इस बोझ-ढोने से छुटकारा प्राप्त हो जाता ।'' ऐसा सोचने के बाद वे भिक्षा में एक घोड़ा पाने के प्रयास में – ''एक घोड़ा दिला दे, राम'' – की गुहार लगाते हुए भिक्षाटन के लिए घूमते रहते थे ।

एक बार उसी रास्ते से होकर राजा की एक पलटन जा रही थी । राह चलते एक घोड़ी के बच्चा होने पर उसके सवार ने सोचा, ''अब क्या किया जाय, पलटन तो अभी यहाँ से अन्यत्र कूच करनेवाली है और घोड़ी तो पैदल चल सकती है, परन्तु उसके इस नवजात बच्चे को अपने साथ कैसे ले चला जायँ?'' वह इधर-उधर देखने लगा कि कहीं कोई ऐसा व्यक्ति मिल जाय, जो इस बच्चे को लादकर ले चले ।

इतने में ही वे ''घोड़ा दिला दे, राम'' वाले महात्मा सामने आ पड़े । इन्हें अच्छा हृष्ट-पुष्ट देखकर सैनिक ने जबरन उन्हीं पर घोड़े के बच्चे को लाद दिया । मजबूर होकर उन्हे उस घोड़े के बच्चे को ढोते हुए चलना पड़ा । तब बेचारे साधु बोल उठे – ''उल्टा समझे, राम – घोड़ा मैंने माँगा जरूर था, परन्तु अपना बोझ ढोने के लिए माँगा था और तुमने ऐसा दिया कि मुझे ही उसका बोझ ढोना पड़ रहा है ।''

संसार के प्रत्येक वस्तु सुख का लोभ दिखाकर दुखों के बन्धन में फँसा देती है । अत: किसी भी वस्तु की कामना करते समय बड़ी सावधानी बरतनी चाहिए ।

❖ (क्रमशः) ❖

मुण्डक उपनिषद : एक चिन्तन (२/१)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(कोलकाता के भारतीय संस्कृति संसद में विगत २४ से २६ जून के दौरान हुए तीन व्याख्यानों का अनुलिखन)

वन्दनीया माताओं एवं सभी सुहृद श्रोतागण!

शान्ति पाठ से उपनिषद् पर चर्चा प्रारम्भ करें –

ॐ भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवाः
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ।।
स्वस्तिन इन्द्रो वृद्धश्रवाः
स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्तिनस्ताक्ष्यों अरिष्टनेमिः
स्वस्तिनो बृहस्पतिर्दधातु ।।
ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः !

कल इस शान्ति मन्त्र के अर्थ पर हम लोगों ने चर्चा की थी। जहाँ विराम दिया गया था, वह स्थान है कि ऋषि उस पराविद्या से उपलब्ध होने वाले सत्य का वर्णन कर रहे हैं। एक समस्या सभी के साथ आती है। कई बार ऐसा लगता है कि यह बड़ा कठिन है और हम समझ नहीं पाते हैं। हम विचार करके देखें कि हमारी कठिनाई का कारण क्या है? केवल उपनिषद् ही नहीं, किसी भी विषय में आप विचार करके देखें, तो आप पाएँगे कि यदि हमारे मन में जिज्ञासा और रुचि का अभाव है तो सब कुछ कठिन लगेगा। सरल से सरल अखबार भी यदि आप पढ़ें, जो एक दिन की घटनाएँ हैं, यदि जिज्ञासा और रुचि नहीं है तो वह भी कठिन लगेगा। चाहे हमारी मातृभाषा हो, सरल कहानी या किस्से ही हों, यदि ज्ञान की पिपासा, जिज्ञासा या रुचि न हो तो सब कुछ कठिन लगता है। किन्तु रुचि उत्पन्न की जा सकती है। इन उपनिषदों को श्रुति भी कहते हैं। श्रुति माता है। जब मैं यहाँ आने के लिए आश्रम की गली से निकल कर सड़क पर आया, हमारी गाड़ी रुकी, अन्य दूसरी गाड़ियाँ जा रही थीं, तब स्कूल की छुट्टी हुई थी। बहुत-सी माताएँ अपने अपने बच्चों का हाथ पकड़कर उन्हें ले जा रही थीं। हमारी गाड़ी के ठीक सामने एक माँ अपने पाँच-छह वर्ष के बच्चे का हाथ पकड़े हुए जा रही थी। उसे सड़क पार करना था। सड़क पार करने के पहले माँ ने बच्चे की पीठ पर से बस्ता उतार कर अपने हाथ में ले लिया। बच्चा आनन्द से फुदकते माँ के साथ सड़क पार हो गया। भगवती श्रुति भी ऐसी ही हमारी माता हैं। वे हमारा सारा बोझ उतार देती हैं। पर 'यह बोझ है, मैं इसे उतारूँ' हमें अपने इस बोझ का भान तो होना चाहिए। यदि मैं अपना बोझ न उतारना चाहूँ तो माँ श्रुति क्या करेंगी? देखिए, उपनिषद् में जो बातें कही गयी हैं उसका एक मात्र प्रयोजन है – हमारे जीवन को सभी सांसारिक भारों से मुक्त कर देना। उससे मुक्त होकर हम जिसके लिए आए हैं उस कार्य को आनन्दपूर्वक कर सकें। हमें जो मानव देह मिली है उसका एकमात्र प्रयोजन है कि हम मृत्यु से अमरता की ओर जायँ। हम सीमित हैं। सीमित से असीम हो जाएँ। एक शब्द में यह देह हमें भगवान के पास पहुँचाने का वाहन है। इसलिए यह देह मिली है। यही इसका प्रयोजन है। इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए हमें भगवती श्रुति की शरण में जाना पड़ेगा। सभी धर्मशास्त्र श्रुति के ही विस्तार हैं। श्रुति माता हमसे कहती हैं कि जो बात मैं बता रही हूँ, उसे ध्यान से सुनो। तुमको कहीं जाना नहीं है। जब तक जाने की इच्छा मन में रखोगे, तब तक तुम कहीं नहीं पहुँच पाओगे। क्योंकि सब कुछ तुम्हारे भीतर है। बाहर जाना बन्द करो। भीतर की ओर जाने का प्रयत्न करो। तब तुम पाओगे कि सब तुम्हारे भीतर है। वह कैसे होगा? परमानन्द जी ने मन्त्र और महा-गृहस्थ शौनक की बातें बतायी थीं। उपनिषद् में बतायी गई ब्रह्मविद्या के गृहस्थ भी उतने ही अधिकारी हैं, जितने कि संन्यासी। एक विशेष बात हमेशा ध्यान में रखनी चाहिए। मुण्डित मस्तक लोग ही उपनिषद् विद्या के अधिकारी हैं या ठीकेदार हैं, ऐसा नहीं है। गृहस्थ भी उतना ही अधिकारी है। प्रश्न है कि चाहे वह गृहस्थ हो या संन्यासी, क्या उसके मन में सत्य को जानने की इच्छा है? क्या वह जीवन की कठिनाइयों से निपटना चाहता है? क्या उसने यह समझ लिया है कि संसार में जो कठिनाइयाँ उसके जीवन में आ रही हैं, उसका स्थायी समाधान सांसारिक उपायों से सम्भव नहीं है? तब प्रश्न आता है कि इसके लिए हमें क्या करना चाहिए? वैसे आप और हम, गृहस्थ और संन्यासी एक ही पथ के पथिक हैं। हम किसी दूसरे रास्ते से नहीं जा रहे हैं। आप लोग आराम से ए.सी. फर्स्टक्लास में जा रहे हैं और हम जनरल डब्बे में जा रहे हैं। गाड़ी वहीं पहुँचेगी।

अब ऋषि वर्णन कर रहे हैं – अपरा विद्या क्या है? – ***यया तद् अक्षरम् अधिगम्यते*** – जिसके द्वारा उस अक्षर परमात्मा को पाया जाता है। अपरा विद्या वह है, जो हमें अक्षर में या ईश्वर में पहुँचा दे, ईश्वरीय ज्ञान दे दे। वह ईश्वर जिसको उपनिषद् में ब्रह्म या सत्य कहते हैं। इसी उपनिषद् में है – **सत्यमेव जयते न अनृतं** (मुण्डक-३/१/६) – सत्य की ही विजय होती है, असत्य की नहीं। यह सत्य कैसा है? इस पर कल थोड़ी सी चर्चा हुई थी। तत् अदृश्यं और अग्राह्यम् –

पहले इन दो शब्दों पर विचार करके देखें। यदि हमने इन शब्दों को ठीक से समझ लिया तो ईश्वर की धारणा बनाने में हमें बहुत बड़ी सहायता मिलेगी। अदृश्यम् – ब्रह्म या ईश्वर को इन आँखों से नहीं देखा जा सकता है। अग्राह्यम् – अन्य किसी इन्द्रियों से ग्रहण भी नहीं किया जा सकता है। अगर ये दो गुण ईश्वर में न हों तो कठिनाई के क्षणों में ईश्वर हमारी सहायता नहीं कर सकता। पुराण से, महाभारत से हम इसे समझने का प्रयत्न करें। ऐसे संयोग की बात है कि अभी १२-१३ मिनट पहले हम बैठे थे, तो परमानन्द जी भीष्म की चर्चा कर रहे थे कि भीष्म ने अपना कर्तव्य-पालन नहीं किया। भीष्म बहुत बड़े महापुरुष थे। अष्टवसुओं के एक वसु हैं। उसी सन्दर्भ में मेरे मन में यह बात आयी कि इसको समझने के लिए यह प्रसंग बहुत अच्छा है। महारानी द्रोपदी का चीर-हरण हो रहा है। यदि हम उपनिषद् में बताए हुए ईश्वर के स्वरूप पर विश्वास न करें या उसको न समझें, तो कभी यह सम्भव नहीं है कि कृष्ण द्रोपदी की सहायता कर सकते। कहाँ द्वारिका में रहने वाले द्वारिकाधीश श्रीकृष्ण! और कहाँ इतनी दूर हस्तिनापुर! यदि वे अपने रथ से, गरुण से भी आते, समय तो लगता ही। तब तक द्रोपदी का शील-भंग हो जाता। वे विवस्त्रा हो जातीं। ऐसा भगवान जो सगुण-साकार है, वह सब समय हमारी रक्षा नहीं कर सकता।

इसलिए भगवान सगुण-साकार के साथ-ही-साथ निर्गुण-निराकार भी हैं। कृष्ण अदृश्यम् भी थे। जिनको आँखों से नहीं देखा जाता। वे अग्राह्यं भी थे। जिनको इन्द्रियाँ पकड़ नहीं सकतीं। ऐसे जो सर्वव्यापी भगवान हैं, इनके लिए प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। जिस क्षण द्रोपदी के मन में तीव्रता से पुकार आयी – हे द्वारिकाधीश! तुम्हें छोड़कर अब कोई मेरी सहायता नहीं कर सकता। तब तत्काल वस्त्रावतार हुआ। यदि वे गरुण से भी आए होते तो द्रोपदी के शील की रक्षा सम्भव नहीं हो पाती। लेकिन वे वहीं उपस्थित थे। वस्तुतः हम बोलने की सुविधा के लिए कहते है कि 'भगवान थे', नहीं तो 'वे हैं ही'। तो भगवान अदृश्यं हैं। हम उन्हें इन्द्रियों से नहीं पकड़ सकंते कि वे कहाँ हैं। वे हमारे भीतर हैं। क्योंकि हम भी तो उन्हीं में है। यह ब्रह्मविद्या सबका आधार है। वह ब्रह्म सर्वव्यापी है। जो आँखों से दिखता नहीं है उसका अस्तित्व ही नहीं है, ऐसा नहीं है। हवा आँखों से नहीं दिखती है, किन्तु उसका अस्तित्व है। छोटी-छोटी सी बात हमारे हृदय में जो प्रेम है, राग-द्वष हैं, ये आँखों से नहीं दिखते हैं, पर इनका अस्तित्व है। अस्तित्व इतना है कि हमारे सम्पूर्ण जीवन को प्रभावित करता है। हममें से किसने क्रोध को देखा है? किसी ने नहीं देखा है। पर क्रोध हमारे जीवन को नष्ट कर देता है, लोगों का जीवन नष्ट कर देता है। ऐसा ईश्वर जो हमारी चर्म-चक्षुओं से नहीं दिखता है, वह हमारे सबसे निकट है। जो चर्म-चक्षुओं से दिखता है, वह हमसे दूर है। जिस ईश्वर का रूप है, उसको देखने वाला एक अन्य भक्त है। भक्त और भगवान में दूरी है। दृश्य और द्रष्टा है। वह ईश्वर हमारी इन्द्रियों की पकड़ के बाहर है, आँखों से नहीं दिखता है। ऐसा ईश्वर सर्वव्यापी है। सर्व में मैं भी तो शामिल हूँ। मेरे हृदय में भी वह ईश्वर विराजमान है। ऐसा वह अद्रेश्यं, अग्राह्यं परमात्मा है।

इस प्रकार ऋषि हमारे मन को धीरे धीरे ऊपर ले जा रहे हैं। क्योंकि जब भी, जिस भी जन्म में हम परम लक्ष्य की प्राप्ति करेंगे, तब हमें निश्चित रूप से अनुभव हो जाएगा कि ईश्वर निराकार भी है और साकार भी है। ईश्वर को जहाँ भी किसी सीमा में हमने बाँधा तो ईश्वर का खण्डन हो गया। अगर हम हठ करें, दृढ़ता से कहें कि ईश्वर निराकार नहीं हो सकता, तो वैसा ईश्वर सर्वशक्तिमान नहीं हो सकता। उसकी शक्ति वहाँ हार गयी। यदि हम कहें कि ईश्वर साकार नहीं हो सकता, जैसा कि बहुत से लोग कहते हैं, तो वहाँ ईश्वर सीमित हो गया। इसलिए ईश्वर निर्गुण-निराकार है और सगुण-साकार भी है। जो कुछ हमारी धारणा हो सकती है, ईश्वर वह सब है और हमारी धारणा के बाहर भी है। इसलिए वह ईश्वर हमारे अपने भीतर है। अगोत्रं – हमारा कोई पूर्व-पुरुष जिससे हमारी पहचान होती है, उसे गोत्र कहते हैं। सबके अपने अपने गोत्र हैं। हमारे कोई पूर्व-पुरुष हैं। उनके अनुसार हमारा गोत्र चला करता है। पूर्व-पुरुष का तात्पर्य है, ऐसा व्यक्ति था जिससे हमारी धारा चल रही है। किन्तु ईश्वर या ब्रह्म का कोई पूर्व-पुरुष नहीं है। स्वयमेव प्रतिष्ठितम् – वह अपने आप प्रतिष्ठित है। उसे अपने पूर्व तथा अपने पश्चात् किसी की आवश्यकता नहीं है। अवर्णं – उसका कोई रंग, कोई वर्ण नहीं है, कोई पहचान नहीं है। जिसका वर्णन न किया जा सके, वह अवर्ण, अवर्णनीय है। अचक्षुश्रोत्रं – उसकी आँखें नहीं हैं। उसके कान नहीं हैं। अपाणिपादं – उसके हाथ-पैर नहीं हैं। ईश्वर केवल सगुण नहीं है। ईश्वर या ब्रह्म को हमारे सामने निषेधात्मक ढंग से रखा गया है। इस प्रकार समझने में थोड़ी कठिनाई होती है। तब प्रश्न उठता है कि ईश्वर क्या है? तत्काल ऋषि उत्तर देते हैं – **नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तद् अव्ययं यद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः** (मुण्डक-१/१/६)। यह साधना की बात है। यहाँ चिन्तन का प्रश्न है। जीवन के विकास के लिए चिन्तन परम आवश्यक है। बिना गहन चिन्तन और विचार के हमारे आन्तरिक जीवन का विकास नहीं हो सकता है। बाह्य जीवन के विकास का प्रश्न ही नहीं है। जिस दिन हमारा जन्म हुआ, उसी दिन से हमारे भीतर जो जीन्स हैं, उसमे निश्चित था कि हमारे शरीर की ऊँचाई इतनी होगी, अंगों का ऐसा विकास होगा आदि। यहाँ शरीर या भौतिक विकास नही, उसका तो क्षरण होगा। हमारा शरीर क्षरण की ओर जा रहा है। शरीर विनाश की ओर जाएगा ही। विकास का तात्पर्य ही होता है

मानसिक विकास। यहाँ एक और बात ध्यान रखनी चाहिए कि ईश्वर का विकास या ह्रास नहीं होता है। ईश्वर तो जैसा है वैसा ही है। हमारे मन के विकास या ह्रास के कारण वह हमें छोटा या बड़ा दिखता है, पक्षपाती दिखता है; सगुण-साकार और निर्गुण-निराकार दिखता है। ज्यों-ज्यों मन का विकास होता है त्यों-त्यों उस मन में हमारी चेतना अधिक-से-अधिक प्रकाशित होने लगती है। मन का विकास कैसे होता है? हमारे पास रूपये के आकार का एक छोटा सा दर्पण है। रूपये के आकार के दर्पण में उतना ही दृश्य दिख पाएगा, जितना बड़ा वह है। संसार तो बहुत बड़ा है। सारा संसार तो उसमें नहीं दिखेगा। वह दर्पण अगर रूपये के आकार से बड़ा होकर पेंड़े के आकार का हो जाय, एक प्लेट के आकार का हो जाय, तो और अधिक दिखने लगेगा। थाली जैसा हो जाय तो दृश्य की सीमा और अधिक बढ़ जाएगी। इसी प्रकार साधना करने से हमारा मन धीरे-धीरे विकसित होता है। चित्त जब शुद्ध होता है, तभी मन का विकास होता है। मन जितना विकसित होगा, जितना विशाल होता जाएगा, उसमें उतनी ही चेतना प्रगट होती जाएगी। हमारे जीवन के विकास का यही तात्पर्य है कि हम अपनी चेतना के नए नए आयामों का अनुभव करते हैं। जब हमारा चित्त अशुद्ध था, तब हम छोटी चेतना का अनुभव करते थे। इसलिए ऋषि कहते हैं, देखो, उस ईश्वर के विषय में याद रखो। नित्यम् – वह नित्य है। नित्य क्या है? नित्य उसको कहते हैं, जिसका त्रिकाल में कभी भी अभाव न हो। जो भूतकाल में था, वर्तमान में है और भविष्य में भी रहेगा। वह एक क्षण के लिए भी लुप्त नहीं होता है। वह देश-काल से परिच्छिन्न नहीं होता है। सदैव एकरस बना रहता है। ऐसा वह ईश्वर नित्य है। वह नित्य ईश्वर हमारे भीतर है। हमारी इस अनित्य देह, अनित्य मन, अनित्य बुद्धि के भीतर, उसके पीछे एक नित्य तत्त्व है। उसी तत्त्व के कारण हमको इस परिवर्तन का अनुभव होता है। हम जो पाँच वर्ष की उम्र में 'मैं हूँ' सोचते थे, अभी सत्तर वर्ष की उम्र में भी वही 'मैं हूँ' सोचते हैं। उस 'मैं' में परिवर्तन नहीं हुआ। किन्तु शरीर बदल गया। वह जो एक तत्त्व है – नित्यं विभुम् – विभु सर्वव्यापी को कहते हैं। वह सब जगह है। ऊपर जो बात कही गयी थी, वह नकारात्मक ढंग से कही गयी थी। अभी सकारात्मक ढंग से कही जा रही है। वह विभु, सब जगह व्याप्त है। सर्वगतम् – वह सर्वव्यापी है। ऐसा कोई भी देश-काल-स्थान नहीं है, जहाँ वह न हो। वह सब जगह है। इसलिए सर्वगतं है। जब हम अपने मन को धीरे धीरे इस चिन्तन में लगाएँगे, तब मन का विकास होगा। साधना करके तब हम समझ पाएँगे कि मन का विकास कैसे होता है? जो नित्य और सर्वगत विभु है, वह हमें क्यों नहीं दिखता है? वह तत्त्व हमें इसलिए नहीं दिख पाता है कि सुसूक्ष्मम् – वह अत्यन्त सूक्ष्म है। यह प्रकाश हम देख रहे हैं, किन्तु यदि एक्स-रे किरणें होतीं तो हम नहीं देख पाते। क्योंकि वे सूक्ष्म हैं। वह तत्त्व हमारी स्थूल इन्द्रियों के लिए सूक्ष्म है। इनसे वह हमें नहीं दिख सकता। जैसे हम बिना सूक्ष्मदर्शी यन्त्र के स्लाइड में आए बैक्ट्रिया को नहीं देख पाते हैं। उसे सूक्ष्मदर्शी यन्त्र से देख लेते हैं। उसी प्रकार जिस दिन हमारा चित्त शुद्ध हो जाएगा, इतना शुद्ध हो जाएगा कि वह सूक्ष्मग्राही हो जाएगा। तब हम उसका अनुभव कर सकेंगे। ऋषियों ने इसका अनुभव किया था। इसलिए सुसूक्ष्मम् – केवल सूक्ष्म नहीं, अत्यन्त सूक्ष्म है। ऐसा अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व जो ब्रह्म या आत्मा है, वह कैसा है? तद् अव्ययम् – व्यय कहते हैं खर्च होने को। किसी प्रकार उसका व्यय नहीं होता, वह कम नहीं होता है। ऐसा जो तत्त्व है, वह क्या है? तद् भूतयोनिं – भूत कहते हैं जिसका निर्माण हुआ हो, जन्म हुआ हो। योनिम् – आदिस्थान जहाँ से सब उत्पन्न होता है। वह ब्रह्म ऐसा है जहाँ से यह संसार उत्पन्न हुआ है। ऐसे उस ब्रह्म को जिसका वर्णन पहले नकारात्मक ढंग से किया गया कि उसकी आँख, कान, हाथ-पैर नहीं हैं, जो आँखों से देखा नहीं जाता, हाथों से पकड़ा नहीं जाता आदि। इतना होने के बाद भी जो नित्य है, विभु है, सर्वगत है। ऐसा जो सर्वव्यापी ब्रह्म या ईश्वर है, क्या इसकी अनुभूति कभी हो सकती है? तुरन्त उसी मन्त्र में ऋषि कहते हैं – परिपश्यन्ति धीरा: – अवश्य धीर पुरुष उसका दर्शन करते हैं। परिपश्यन्ति – चारों ओर से, सर्वत्र उसका अनुभव करते हैं। ऋषि निश्चित रूप से इसकी घोषणा करते हैं कि जो सत्य मैंने तुमको बताया। मैंने कहा कि परा और अपरा दोनों विद्याएँ जाननी चाहिए। अपरा विद्या के द्वारा तुमने संसार के सारे ज्ञान प्राप्त कर लिए। संसार में जो भी विज्ञान आदि हैं, सब अपरा विद्या है। हे शौनक! इस अपरा विद्या के ज्ञान के द्वारा तुमने अनुभव कर लिया कि अपने जीवन की समस्याओं का समुचित समाधान तुम नही कर पा रहे हो। तुमको ऐसा लगने लगा कि सब कुछ मैंने जान लिया, पढ़ने-लिखने के बाद भी कोई कमी रह गई और उस कमी का

समाधान इससे नहीं हो पा रहा है। ऋषि कहते हैं कि अब मैं तुम्हें समाधान बता रहा हूँ। यह ऐसी विद्या है, जिसके द्वारा तुम उस तत्त्व को जान सकोगे। उसे सर्वत्र देख सकोगे। धीरा: – उपनिषदों में धीर शब्द बार बार आता है। धीर का तात्पर्य है, जो बाह्य और आन्तरिक किसी भी प्रकार की प्रकृति से विचलित न हो। पंखा बन्द हो गया। गर्मी लगने लगी। हम विचलित हो गए। ठंड लगने लगी। हम विचलित हो गए। ये बाहर की चीजें हैं। आन्तरिक क्षोभ है, जब राग-द्वेष-क्रोध आदि आया, तब हम धैर्यच्युत हो जाते हैं। मनुष्य अपनी साधना में निरन्तर लगा नहीं रह पाता है। मन की दुर्बलता के कारण या जिस कारण से भी हो, वह धैर्य खो बैठता है। तब वह व्यक्ति साधना करके भी उस आत्मा को नहीं देख पाता है। अपने स्वरूप का दर्शन नहीं कर पाता। उसकी शर्त है धीरा: – धैर्यपूर्वक। कब तक धैर्य? जब तक लक्ष्य की प्राप्ति न हो जाय। इस जन्म में, हजार-लाखों जन्मों में। धैर्यवान पुरुष उस तत्त्व को देख लेता है।

यह ऋषि ने ईश्वर या ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन किया। शौनक ने प्रश्न किया था कि किसको जान लेने से सब कुछ जाना जा सकता है? ऐसा लगता है कि ऋषि प्रत्यक्ष उत्तर न देकर उस प्रश्न को टालना चाहते हैं। किन्तु, ऐसी बात नहीं है। वे हमें क्रम से समझाना चाहते हैं। अपरा विद्या जिसके द्वारा हमने विश्व-ब्रह्माण्ड का ज्ञान प्राप्त किया, वह कहाँ से आया? किसने इसे बनाया? जो भी विचारशील व्यक्ति है, जब उसके जीवन में सारी सुविधाओं के भोग करने के बाद उसे ऊब आने लगती है, जब दु:ख आदि आते हैं, तब एक-न-एक दिन अवश्य उसके सामने यह प्रश्न आता है, अरे मैं कहाँ आ गया? आश्चर्य सा लगता है। शौनक को भी यही आश्चर्य हुआ था। हम सबको भी यही आश्चर्य होता है। इसके उत्तर में अत्यन्त प्रसिद्ध मन्त्र है। यह भारतीय दर्शन का एक बहुत बड़ा आधार है। हिन्दू धर्म कहूँ, क्योंकि भारतीय दर्शन में तो आजकल साम्यवादियों के दर्शन भी शामिल किए जाते हैं। इसे आर्य-दर्शन भी कह सकते हैं। जो आर्यों का दर्शन है, वही वेद-वेदान्त का दर्शन है। वह विश्व को भारत की देन है। यह विश्व कहाँ से आया? इसके उत्तर में कहते हैं –

यथोर्णनाभि: सृजते गृह्णते च
यथा पृथिव्याम् ओषधय: संभवन्ति।
यथा शत: पुरुषात्केशलोमानि
तथा अक्षरात् संभवति इह विश्वम्।। (मु. १/१/७)
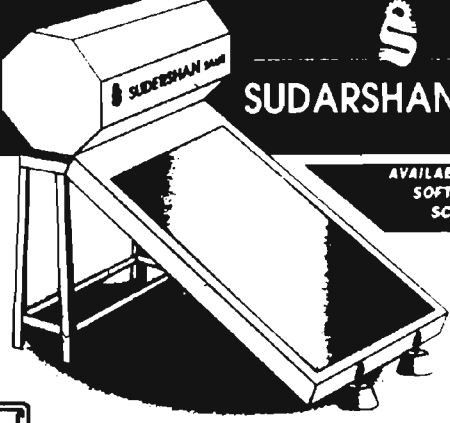
ऋषि ने अत्यन्त आत्मविश्वास से घोषणा की। अक्षर माने वही ब्रह्म। ईश्वर से संसार की सृष्टि हुई है और वह ईश्वर में ही मिल जाता है। अब इसमें जो उदाहरण दिया गया है, उससे बात बहुत स्पष्ट होगी। उर्णनाभ मकड़ी को कहते हैं। जैसे मकड़ी अपने पेट से ही जाला निकालती है और उसको फिर से निगल जाती है। वैसे ही ईश्वर से संसार की सृष्टि हुई है। कैसे हुई? जैसे एक मिट्टी का घड़ा है। हमने देखा कि मिट्टी के घड़े को कुम्हार ने बनाया है। कुम्हार और घड़ा अलग अलग है। कुम्हार के पास अगर मिट्टी न हो तो घड़ा नहीं बन सकता। जिस चीज से घड़ा बनता है, उसे उपादान कारण कहते हैं। मिट्टी उपादान कारण है, क्योंकि उससे घड़ा बनता है। जो घड़े को बनाता है, उसे निमित्त कारण कहते हैं। कुम्हार निमित्त कारण है, क्योंकि वह घड़े को बनाता है। लकड़ी से चौकी बनी है, मिट्टी से घड़ा बना है। मिट्टी का घड़ा और उसको बनाने वाला कुम्हार दोनों अलग-अलग हैं। आज तक इस विश्व के जितने दर्शन हैं, वेदान्त को छोड़कर अभी भी इस झंगड़े में पड़े हैं। हमारे यहाँ सांख्य दर्शन है, जो कहता है – प्रकृति भिन्न है और पुरुष भिन्न है। प्रकृति-पुरुष के झगड़े आज तक चलते हैं। फिर कहो पुरुषवाद है आदि। ईश्वर से भिन्न कोई ऐसा तत्त्व है, जिससे ईश्वर संसार बनाता है। वह क्या है? वेदान्त कहता है, ब्रह्म या ईश्वर इस संसार का उपादान कारण भी है और निमित्त कारण भी है। ईश्वर से ही सृष्टि बनी है और ईश्वर ने ही बनाया है। सृष्टि का यह तत्त्व जानने से हमें क्या लाभ होगा? अब साधना की दृष्टि से विचार करके देखें। ❖ (क्रमश:) ❖

माँ के समीप (उत्तरार्ध)

स्वामी सारदेशानन्द

माँ श्री सारदा देवी दैवी मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। हमारे लिए बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

माँ के पास अच्छे-बुरे सभी प्रकार की सन्तानें आतीं। गुणी सन्तानों की प्रशंसा सुनकर माँ खुश होतीं और उत्फुल्ल स्वर में कहतीं, "मेरा बेटा"। लड़कों की निन्दा भी माँ को सुननी पड़ती, सुनकर माँ को कष्ट होता। लेकिन दोनों के प्रति सभी अवस्थाओं में माँ का स्नेह-प्रेम समान रहता। उनके व्यवहार में कोई फर्क नहीं आता। इसी प्रसंग में मुझे नवासनवासी एक सन्तान के प्रति माँ के अपार स्नेह की बात याद आती है। माँ का कृपाप्राप्त यह युवक अच्छे कुल का, शिक्षित और गुणवान था। दुर्भाग्यवश वह भटक गया था। माँ के प्रति उसकी भक्ति अटूट थी। वह पहले के समान ही नियमित रूप से आना-जाना करता था। मगर दूसरे भक्तों को उसका आना-जाना अच्छा नहीं लगता था। उन लोगों ने माँ से कहा कि वे उस युवक को आने से मना करें। माँ ने उसके लिए बहुत दुख प्रगट किया, परन्तु बोलीं, "बेटा, मैं माँ होकर उसे 'मत आओ' नहीं कह सकूँगी।" सन्तान का आना-जाना बन्द नहीं हुआ। माँ के स्नेह-यत्न में कोई कमी नहीं आई। लेकिन लड़के के मन में धीरे-धीरे विवेक जागा। उसे अपनी भूल का एहसास हुआ।

गोविन्द नाम का नौ-दस वर्ष का एक बालक जयरामबाटी में माँ के घर गाय-बैलों की देखभाल करता। एक बार उसे बहुत खाज-खुजली हुई। एक रात तकलीफ ज्यादा बढ़ जाने से वह अधीर होकर रोने लगा। लड़के के रोने से माँ रात में सो नहीं पाई। अगले दिन सुबह देखा गया कि माँ गोविन्द को बुलाकर कमरे में ले गईं और अपने हाथों से नीम की पत्तियाँ और हल्दी पीसने के बाद थोड़ा-थोड़ा उसके हाथों में दे रही हैं और किस तरह लगाना है, बता रही हैं – और गोविन्द उसी तरह लगा रहा है। माँ के स्नेह यत्न से उसका मन एक अनिर्वचनीय आनन्द से प्रफुल्लित हो उठा है। उन दोनों लोगों के चेहरे का भाव देखकर और बातचीत सुनकर कौन जान सकता है कि वह उनका पुत्र नहीं है।

कुली, मजदूर, गाड़ीवान, पालकी-वाहक कहार, फेरीवाले, मछुआरे-मछुआरिन – जो भी माँ के घर आते, सभी समान रूप से माँ से बेटे-बेटियों जैसा स्नेह पाते। कोई भी इहकाल या परकाल में भी वह करुणा भरी स्नेह-दृष्टि भूल नहीं सकता। यदि कभी भूल भी जाय, तो दुख-कष्ट पड़ते ही मन में वह स्नेह-मधुर कृपादृष्टि फिर से जाग उठती है।

एक बार निम्नश्रेणी की एक मजदूर महिला किसी भक्त द्वारा भेजा गया सामान लेकर दोपहर में माँ के पास आई। माँ ने उसे नहाने, खाने और विश्राम करके जाने को कहा। विश्राम करने के बाद रात हो आई है, यह देख माँ ने उसे रात में वहीं रुक जाने को कहा। माँ के कमरे के बरामदे में दरवाजे के निकट ही उसके सोने की व्यवस्था हुई। महिला अधेड़ अवस्था की और मलेरियाग्रस्त थी। फिर बहुत दूर पैदल चलकर आयी थी। परिश्रम से थक कर चूर हो गई थी। रात में अनजाने ही उससे बिस्तर गन्दा हो गया। माँ प्रतिदिन की भाँति खूब सबेरे उठीं, दरवाजा खुलते ही उसकी यह अवस्था दृष्टि में पड़ी। अब क्या करें? दूसरों के उठने पर, उसकी भनक मिलते ही माँ की इस दुखिनी बेटी को बेहिसाब डाँट-फटकार सुनने को मिलेगी। माँ का मन व्याकुल हो उठा। महिला उस समय भी नींद में डूबी थी। माँ ने उसे धीरे से जगाया। मधुर बातों से आश्वासन दिया और रास्ते में खाने के लिए चुपचाप मुरमुरा-गुड़ आँचल में देकर बोलीं, "बेटी, सुबह जल्दी निकल जाने पर तुम्हें धूप में परेशान नहीं होना पड़ेगा।" सन्तुष्ट होकर प्रणाम करके उसने विदा ली। माँ ने अपने हाथों से सब साफ किया। गोबर-मिट्टी से उन्होंने बरामदा लीपा, चटाई को अच्छी तरह धोकर तालाब के किनारे फैला दिया। किसी को कुछ पता ही नहीं चला। बाद में किसी भक्त-महिला द्वारा पूछताछ करने पर कि बरामदा किसने लीपा है, पूरी घटना का पता चला।

जयरामबाटी में एक बाल-विधवा बालिका थी। वह बड़ी गरीब थी। मजदूरी करके बड़े कष्टपूर्वक गुजर-बसर कर रही थी। कब शादी हुई, पति कैसा था, कब विधवा हुई, उसे कुछ मालूम न था। थोड़ी उम्र होने के बाद उसे पता चला कि वह विधवा है, उसकी दुबारा शादी नहीं होगी, सांसारिक सुख-भोग का अब उसे कोई अधिकार नहीं। भक्तों का सामान ढोने के लिए उसका माँ के घर आना-जाना होता है। माँ उससे खूब

स्नेह करतीं। धीरे-धीरे वह युवती हुई। एक युवक के साथ अवैध मेल-जोल होने से बात बहुत आगे बढ़ जाने पर लोगों को सब ज्ञात हो गया। समाज के निर्दय नेताओं ने इतने दिनों तक इस अनाथ की कोई खोज-खबर न ली थी। उसे सुशिक्षा देने की कोई व्यवस्था न की थी। और अब इस दुखिनी पर उनकी तीक्ष्ण दृष्टि जा पड़ी। अभागिन को खूब लांछना सहनी पड़ी। सारी बातें सुनकर माँ इस कन्या के भविष्य के बारे में सोचकर अत्यन्त दुखी और चिन्तित हुईं। लेकिन भगवान से प्रार्थना के सिवा वे भला कर भी क्या सकती थीं!

उस पर ईश्वर की कृपा हुई। माँ से कृपाप्राप्त एक स्थानीय जमींदार-सन्तान ने हस्तक्षेप कर यह सामाजिक संकट मिटाया। सुनकर माँ निश्चिन्त हुईं। कई दिन बाद उनके उस जमींदार-सन्तान ने आकर जब उन्हें प्रणाम किया, तो माँ प्रसन्न होकर उसे आशीर्वाद देते हुए बोलीं, "बेटा, तुमने उस दुखिया को बचा लिया, उसकी रक्षा की, सुनकर मेरे प्राण शीतल हुए। भगवान तुम्हारा मंगल करें।"

हम लोग जिन्हें अधम कहकर घृणा करते हैं, उन्हें भी प्यार से अपनाकर, उनकी विपत्ति के समय यह सहानुभूति, यह अपार स्नेह जगन्माता – 'जन्म-जन्मान्तर की माँ', 'भलों की माँ और बुरों की भी माँ' के सिवा और कौन दे सकता है?

गृही भक्तों की भी संसार में उदासीनता और विश्रृंखलता माँ पसन्द नहीं करती थीं। अपनी सभी सन्तानों के प्रति उनकी शिक्षा थी – यह भगवान का ही संसार है, यहाँ हम लोगों को उन्होंने जिस कार्य में रखा है, उनके ऊपर निर्भर रहकर उसे यथासाध्य भलीभाँति सम्पन्न करने की चेष्टा करना ही हम लोगों का चिर कर्तव्य है। अपने कर्तव्य-पालन के प्रति अनिच्छुक लोगों के बारे में दुख प्रगट करते हुए माँ कहतीं, "ठाकुर, जिनके शरीर पर वस्त्र नहीं टिकता था, उन्हें भी मेरे लिए कितनी चिन्ता रहती थी!"

एक बार एक भक्त ने माँ को खूब मूल्यवान वस्त्र देने का आग्रह किया। माँ उसे मना करते हुए बोलीं, "रुपये खर्च करने की खूब इच्छा हो, तो वह धान की जमीन खरीद दे, इससे साधु-भक्तों की सेवा होगी।" उसके रुपये देने पर थोड़ी जमीन लेने की बात हुई, लेकिन विक्रेता का मन बदल जाने के कारण वह नहीं खरीदा जा सका। माँ ने इस विषय में एक सन्तान से कहा, "बेटा, जमीन तो अभी नहीं खरीदी गई, रुपये पास में रहने से खर्च हो जाता है, इसलिए केदार के पास कोयलपाड़ा भिजवा दिया है कि धान खरीद कर रख ले, अभी धान बड़ा सस्ता है। जब जरूरत होगी, धान बेचकर रुपये मिल जाएँगे।" सुविधानुसार जमीन न मिलने से उसे खरीदा नहीं जा सका, पर कुछ समय बाद जब वह धान खर्च हुआ, तब तक उसकी कीमत चार गुना बढ़ चुकी थी।

जयरामबाटी में जब नया घर बना तो ग्राम पंचायत ने उस पर चौकीदारी टैक्स लगाया और पहले साल माँ की अनुपस्थिति में, उस समय वहाँ उपस्थित माँ के सेवक ब्रह्मचारी ज्ञानानन्द ने वार्षिक टैक्स के चार रुपये भर दिये। अगले साल माँ गाँव में थीं। जब टैक्स लेने लोग आए तो माँ ने उपस्थित सेवक[१] को आदेश दिया कि वे चेष्टा करके टैक्स माफ करा लें। माँ ने उनसे कहा, "अभी मैं यहाँ हूँ, किसी तरह टैक्स के पैसे दे दूँगी, परन्तु बाद में यहाँ जो साधु-ब्रह्मचारी रहेंगे, उन्हें शायद भिक्षा माँगकर खाना पड़े। वे रुपये कहाँ से लाएँगे? टैक्स माफ कराने की चेष्टा करो।" इसके लिए माँ विशेष यत्न के साथ अपने नाम से पत्र[२] लिखाकर सन्तान को यूनियन बोर्ड के अध्यक्ष के पास भेजा था और उस बार टैक्स देने पर भी अगले साल टैक्स न देने की अनुमति मिल गई। अगले साल माँ ने फिर यथासमय एक सन्तान को भेजकर पता लगवाया और वह माफ हो गया।

जयरामबाटी में डाकिया मनीआर्डर के पैसे ले आता। माँ अँगूठे से निशान देतीं। एक व्यक्ति लिख देता – 'श्री सारदा देवी के अँगूठे का निशान।' चपरासी रुपये गिनकर दे जाता।

१. लेखक स्वयं – सम्पादक

२. इस प्रसंग में प्रबोधचन्द्र चट्टोपाध्याय को लिखित माँ का पत्र –

जयरामबाटी

श्रीश्रीगुरुदेव १३२४, चैत्र पंचमी

आशीर्वाद के बाद समाचार –

बेटा, तुम तो जानते ही हो कि हमारे मकान के लिए ४ रुपये चौकीदारी टैक्स निर्धारित किया गया है। यह बहुत ज्यादा होने के कारण कल मैंने एक पत्र के साथ श्रीमान् गोपेश (वर्तमान लेखक) को श्रीयुक्त शम्भू बाबू के पास भेजा था। पत्र मे मैंने लिखा था कि यह मकान देवोत्तर कर देने के कारण इसका मुझसे विशेष सम्पर्क नही है। मैं यहाँ की स्थायी निवासी नही हूँ। घर के आय का कोई साधन नहीं है। जो संन्यासी-ब्रह्मचारी-सेवक यहाँ रहेंगे, उनका भरण-पोषण ही इस गृहस्थी से नही चल सकेगा। ऐसी स्थिति मे स्थायी रूप से यह गुरुभार वहन करना असम्भव है। मेरे अपने भक्त भी जब जैसा देते हैं, प्रभु-इच्छा से उसी में किसी तरह चल जाता है। घर में आमदनी बिल्कुल भी नहीं है, आदि आदि।

शम्भुबाबू ने उसके उत्तर मे कहा है कि इस विषय में उन्होंने पहले ही तुम्हें डि. मजिस्ट्रेट के नाम एक अर्जी लिखने को कहा है। मै नही जानती कि इस बारे में तुमने कुछ किया है कि नही। आशा करती हूँ कि पत्र पढ़कर ध्यान दोगे और जो उचित समझोगे, करोगे। शम्भु राय ने बता दिया है, अर्जी में इस बात का उल्लेख रहे कि यह एक धार्मिक संस्था है और आय कुछ भी नही है। यह सहृदय जनो की सहायता से चल रहा है। यहाँ का कुशल समाचार के साथ मेरा आशीर्वाद लेना।

आशीर्वादिका तुम्हारी माँ

(उद्बोधन, वर्ष ८०, पृ. २२८)

पत्र के दूसरी ओर माँ के निर्देशानुसार स्वामी सारदेशानन्द ने प्रबोध बाबू को लिखा है, "पत्र लिखकर माँ को सुनाते ही उन्होंने कहा – "टैक्स माफ कराने के लिए तुम्हे कुछ करना ही होगा।" (देखिये – उद्बोधन, वर्ष ८३, पृ. ५९१) – सम्पादक

माँ रुपयों को मुट्ठी में उठाकर कमरे में रख देतीं। डाकिये को प्रसाद देतीं, मीठी बातें कर बिदा देतीं। कोई नहीं जान पाता कि कितने रुपये आये हैं, किसने भेजे हैं। बाद में फुरसत से वे किसी से चिट्ठी लिखवाकर प्राप्ति-संवाद और आशीर्वाद भेजतीं। किसी सेवक के उपस्थित होकर मनीआर्डर ग्रहण करने पर वे रुपयों को अधिक खनकाने और गिनने आदि से मना करते हुए कहतीं, "बेटा, रुपयों की खनक सुनने से भी गरीब के मन में लोभ उत्पन्न होता है। रुपया ऐसी चीज है, जिसे देखने पर काठ का पुतला भी मुँह खोल देता है।"

स्वामीजी ने रामकृष्ण मिशन की स्थापना कर साधुओं को जनसेवा में लगाया है, यह ठाकुर के भाव के अनुकूल है या नहीं – ऐसा संशय पहले पहल बहुतों के मन में उठता था। उनमें से कोई कोई माँ से इस बारे में पूछा भी करते थे। माँ कभी कहतीं, "यह सब ठाकुर का काम है।" और कभी कहतीं, "बेटा तुम लोग काम करके खाओ। काम न करने से कौन खाना देगा? धूप में घूम-घूमकर भिक्षा माँगने से सिर घूम जाएगा। अच्छी तरह भोजन न मिलने पर शरीर भी अस्वस्थ हो जाएगा। तुम लोग वह सब मत सुनो। काम करो, अच्छी तरह खाओ-पीओ, भगवान का भजन करो।"

जिस प्रकार माँ जप-ध्यान के लिए उत्साहित करतीं, उसी प्रकार साधना में अति करके लड़के कहीं सिर गरम न कर लें इस ओर भी दृष्टि रखकर आवश्यकतानुसार सावधान भी कर देतीं। अत्यधिक कठोरता करने से वे मना करतीं और खाने-पीने तथा वस्त्रों में असंयम और विलासिता भी पसन्द नहीं करतीं। ठाकुर के देहत्याग के बाद उनके त्यागी शिष्यों के रहने-खाने का कष्ट तथा अभावमय जीवन देखकर माँ के मन में बहुत कष्ट होता था। बोधगया के मठ का ऐश्वर्य तथा वहाँ के साधुओं की सुख-सुविधा देखकर अपने निःसंबल परिव्राजक सन्तानों की बात याद करके माँ के प्राण आकुल हो गये थे और उन्होंने रो-रोकर अपनी सन्तानों के लिए ठाकुर से प्रार्थना किया था। इसीलिए पूजनीया योगीन-माँ ने एक दिन मुझसे कहा था, "आज (मठ-आश्रम आदि) जो कुछ देख रहे हो, सब उन्हीं (माँ) की कृपा से है। जहाँ, जो भी सील-लोढ़े (देव-विग्रह) देखतीं, रो-रोकर कहतीं, 'ठाकुर मेरे लड़कों को थोड़ा सिर रखने की जगह कर दो, थोड़े-से भोजन की व्यवस्था कर दो।' माँ की वह इच्छा पूर्ण हुई है।"

जयरामबाटी में अपने हाथ से गेरुआ देकर कई लड़कों को संन्यास देते देखकर महिलाओं के हृदय में आतंक और शोक का संचार होता। माँ उत्फुल्ल हृदय से हँसती कि चलो एक सन्तान को तो संसार की दारुण ज्वाला से मुक्ति मिली। संसारी लड़कों को धनोपार्जन, विवाह तथा गार्हस्थ जीवन बिताने से निरुत्साहित न करते हुए भी, त्यागी सन्तानों को माँ परम उल्लास के साथ त्याग का पथ दिखा देतीं।

एक बार माँ की एक सन्तान ने लिखा – वे विवाह न कर त्याग के पथ पर ही चलकर जीवन बिताना चाहते हैं, लेकिन पिता इसके घोर विरोधी हैं और वे विभिन्न उपायों द्वारा उन्हें संसार में खींचकर डुबाने की चेष्टा कर रहे हैं। पुत्र की करुण पुकार सुनकर माँ का हृदय द्रवित हो उठा। अश्रुपूर्ण नेत्रों से वे कहने लगीं, "देखो, देखो, पिता होकर लड़के के सिर पर कुल्हाड़ी मारना चाहता है, उसका सर्वनाश करना चाहता है – लड़के ने दुखपूर्वक लिखा है।" माँ ने उसे आश्वासन देते हुए आशीर्वाद सहित पत्रोत्तर दिया। उनकी कृपा से लड़के की सारी विपत्ति दूर हो गयी। धीरे धीरे पिता का मन बदला और वे लड़के पर प्रसन्न होकर उसके धर्म-पथ में सहायक हुए। लड़का भी प्राणपण से पिता की सेवा-सुश्रुषा करके अन्त में उनकी आन्तरिक प्रीति और शुभाशीष का अधिकारी हुआ।

एक अन्य समय एक वृद्ध ब्राह्मण ने माँ को लिखा था कि उन्होंने जिस लड़के को पढ़ा-लिखाकर आदमी बनाया, सोचा था कि वह उन्हें बुढ़ापे में कमाकर खिलाएगा, उसी लड़के ने कुछ दिन पहले माँ से दीक्षा ले ली और उसके बाद वह माता-पिता को छोड़कर साधु बनने को आश्रम में चला गया है। उसकी माँ ने शोक में बिस्तर पकड़ लिया है। वे वृद्ध और निरुपाय हैं। चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार देख रहे हैं। पत्र में उन्होंने अत्यन्त करुण भाषा में अपनी दुःख-भरी कथा निवेदित करते हुए लड़के को वापस पाने की प्रार्थना की थी। पत्र सुनकर माँ बड़ा खेद व्यक्त करते हुए कहने लगीं, "हाय, न जाने वृद्ध ब्राह्मण ने मुझे कितना अभिशाप दिया होगा। देना उचित भी तो है। कितने कष्ट, कितनी आशा से लड़के को पाल-पोसकर बड़ा किया और वह अचानक चला गया।" उन्होंने वृद्ध ब्राह्मण को खूब सांत्वना देते हुए पत्र लिखवाया। माँ ने बताया कि वे इस बारे में कुछ नहीं जानती। लड़के ने उन्हें कुछ नहीं बताया। वह अपनी इच्छा से ही साधु हुआ है, अतः वे भला क्या कर सकती हैं? इसमें उनका कोई हाथ नहीं। उन्होंने वृद्ध को भगवान से कातर प्रार्थना करने की सलाह दी। बोलीं – भगवान निश्चय ही उन लोगों की रक्षा करेंगे, वे लोग चिन्ता छोड़ दें। बाद में माँ ने पत्र-लेखक[३] को सम्बोधित करके कहा, "बेटा, वह बुद्धू अचानक ही क्यों इस प्रकार चला गया। माँ-बाप को भी कष्ट दे रहा है और खुद भी कष्ट पा रहा है! कुछ दिनों तक आश्रम आना-जाना चाहिए, फिर कुछ दिनों तक साधु लोगों के साथ रहना चाहिए – तब यह सब देख-देखकर माँ-बाप को सहन हो जाता है, लड़के की मति-गति समझ में आ जाती है, तब छोड़ जाने पर उनके मन को उतना आघात नहीं लगता।" माँ का वह शिष्य उस समय तो घर लौट जाने को बाध्य हुआ था, लेकिन कुछ दिनों तक माता-पिता के पास रहकर धीरे-धीरे उन्हें राजी करके

३. लेखक स्वयं – सम्पादक

उनकी सहमति से उसने संसार त्यागा और वे लोग जब तक जीवित थे, आपस में खोज-खबर लेना, आना-जाना, घनिष्ठता और स्नेह-प्रीति का सम्पर्क बनाए रखा था ।

संसार-त्यागी साधुओं के प्रति माँ की एक तरह की स्वाभाविक प्रीति थी । माँ की चचेरी बहन का लड़का बाँकू (बंकिम) कम आयु में ही गृह-त्याग कर साधु हो गया । यह सुनकर माँ ने कहा, "साधु हुआ, बहुत अच्छा काम किया है । इस हाड़-मांस के ढाँचे में रखा ही क्या है? मुझे ही देखो न – वातरोग से भुगत रही हूँ, इस देह में आखिर रखा ही क्या है? किसके लिए इतनी माया ! दो दिन बाद ही सब मिट जाएगा । उस समय रह जायेगी बस डेढ़ सेर राख ! यह डेढ़ सेर राख छोड़कर और है ही [illegible] ! बाँकू साधु हुआ है, भगवान के पथ पर गया है, अच्छा किया है, अच्छा किया है !"

माँ की साधु-प्रीति से सम्बन्धित एक अन्य घटना भी याद आ रही है । एक दिन संध्या के बाद कोई सन्तान चिट्ठियाँ पढ़कर माँ को सुना रहा है । माँ जमीन पर पैर फैलाए आसन पर बैठी हैं । सामने लालटेन जल रही है । सन्तान माँ के पास ही बैठकर सिर नीचा किये पत्र पढ़ रहे हैं । सहसा उन्होंने देखा कि एक काफी बड़ा गोजर माँ की ओर चला आ रहा है । उसे देखते ही सन्तान को आशंका हुई कि कहीं यह माँ को काट न ले? उसने तत्काल एक लात मारकर उसे कुचल डाला । उनके पास लाठी या अन्य कुछ लाने का समय ही न था । माँ मृत जीव की ओर करुण नेत्रों से ताकती हुई धीरे धीरे बोलीं, "साधु की पाँव के चोट से प्राण गया ।" माँ ने यह बात ऐसे भाव से कही मानो उसकी आत्मा को सद्गति प्राप्त हुई हो ।

माँ के संन्यासी शिष्यगण उनकी इच्छा के विरुद्ध कभी तिलमात्र भी कुछ नहीं बोलते, परन्तु उनके पादपद्मों में अपनी आकुल प्रार्थना अवश्य निवेदित करते । माँ भी उसे यथायोग्य पूरा करतीं । माँ के बच्चे अबोध हैं, इसलिए वे नि:संकोच अपने हृदय की आकांक्षा कह डालते, सुनकर माँ हँसतीं । कभी सुनतीं, कभी नहीं सुनतीं – भुलाकर अन्यमनस्क हो जातीं । पूजनीय कपिल महाराज माँ के विशेष स्नेहपात्र थे । वे उद्बोधन में बहुत दिन तक माँ की चरण-छाया में रहे । जयरामबाटी में एक बार माँ की बीमारी के बाद थोड़ा स्वस्थ होते ही वे उनसे कलकत्ता जाने के लिए बार बार आग्रह करने लगे । लेकिन माँ ने उन बातों पर ध्यान ही नहीं दिया । दूसरे लोगों से बोलीं, "ये लोग ठहरे नंग-धड़ंग संन्यासी ! उठो, कहने से उठ गए; बैठो, कहने से बैठ गए, कोई चिन्ता-भावना नहीं, कन्धे पर कम्बल डालकर चल दिए । मेरा क्या ऐसा हो सकता है? मुझे चारों ओर देख-समझकर काम करना पड़ता है, ताकि दूसरों को कोई असुविधा न हो ।"

छोटी-मोटी बातों को लेकर शोर-गुल मचाना हम लोगों का स्वभाव है और इसके फलस्वरूप हम लोग दुख-अशान्ति का भोग करते हैं । परन्तु माँ सभी अवस्थाओं में धैर्य तथा सहिष्णुता का आश्रय लेकर चुपचाप सब सहन किये जाने की शिक्षा देते हुए कहतीं – 'श, ष, स – जो सहता है, सो रहता है, जो नही सहता, उसका नाश हो जाता है ।'

अपने दु:ख-कष्टों के लिए माँ को कभी दूसरों को दोष देते नहीं देखा गया । माँ सभी को शिक्षा देतीं, "मनुष्य अपने ही कर्मों का फल पाता है, इसीलिए दूसरों को दोषी न मानकर भगवान से प्रार्थना और उनकी कृपा पर निर्भर रहकर धीरतापूर्वक सभी अवस्थाओं में सहन करते जाना चाहिए ।"

जिन्हें भी माँ के चरणों में कुछ दिन निवास करने का सौभाग्य मिला है, उन सभी को यह बोध हुआ है कि माँ अपने शिष्यों के जीवन-गठन हेतु उन्हें चरित्र-बल, वैराग्य, तितिक्षा, संयम, भगवत्-भजन तथा सभी अवस्थाओं में ईश्वर मे दृढ़ विश्वास, निष्ठा-भक्ति और निर्भरता सीखातीं । जैसे स्वयं उनमें, वैसे ही उनके शिष्यों में भावुकता का आडम्बर कभी दिखाई नहीं देता । वे सभी सौम्य, शान्त, धीर, स्थिर थे ।*

पुरखों की थाती

आदि-मध्यावसानेषु दु:खं सर्वमिदं जगत् ।
तस्मात्सर्वं परित्यज्य तत्त्वनिष्ठो भवेत् सदा ।।

– चूँकि इस जीवन का आदि, मध्य तथा अन्त दु:खों से परिपूर्ण रहता है, अत: सब कुछ त्याग करके निरन्तर ब्रह्मनिष्ठ रहना चाहिए ।

अकिंचनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतस: ।
सदा-सन्तुष्ट-मनस: सर्वा: सुखमया दिश: ।।

– जो संचय नहीं करता, जो मन तथा इन्द्रियों को शान्त रखता है, जो सबके प्रति सम-भाव रखता है और जिसका मन सर्वदा सन्तुष्ट रहता है, उस व्यक्ति के लिए सभी दिशाएँ अर्थात् सारा जगत् ही सुखमय है ।

* स्वामी सारदेशानन्द जी की स्मृति-कथा जब (१९७४ ई.?) उद्बोधन में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हो रही थी, तभी वहाँ से संकलित कर उनके अनुमोदन से वर्तमान निबन्ध तैयार किया गया था । बाद मे स्वामी पूर्णात्मानन्द ने वृन्दावन के रामकृष्ण मठ में जाकर उक्त संकलित निबन्ध को पढ़कर उन्हे सुनाया और (२१ अक्तूबर, १९८१ ई.) उनका अनुमोदन प्राप्त किया । इस निबन्ध के साथ उन्होने एक 'भूमिका' और 'उपसंहार' भी जोड़ दी । बाद मे वह निबन्ध 'शतरूपे सारदा' ग्रन्थ मे संकलित हुआ । वर्तमान लेख में हमने केवल मूल स्मृतिकथा का अंश ही ग्रहण किया है । – सम्पादक

गीता में साधना की रूपरेखा (३/२)

स्वामी शिवतत्त्वानन्द

(रामकृष्ण मठ, नागपुर द्वारा प्रकाशित मराठी में 'भगवद्गीतेच्या अंतरंगात' अपने ढंग की अनूठी पुस्तक है। 'विवेक-ज्योति' में धारावाहिक प्रकाशन हेतु इसका हिन्दी रूपान्तर किया है श्रीमती ज्योत्सना किरवई ने, जिसे हम पिछले वर्ष से क्रमशः प्रकाशित **कर रहे हैं**। – सं.)

– ६ –

'यदि ऐसा ही है, तो फिर उस साधक का आगे क्या होता है? कब और किस प्रकार उसकी वह अद्वैत-वृत्ति भी अस्त होकर उसे ब्रह्म की वास्तविक प्राप्ति होती है?

प्रभु अब वही बता रहे हैं –

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

* * *

प्रभु बताते हैं कि, वह अब 'ब्रह्मभूत' – 'ब्रह्म हो चुका' होता है।

शब्द भी कितना यथार्थ, कितना सार्थक, कितना अनुभव-बोधक प्रयोग किया गया है !

वस्तुतः ('**कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः**' तथा '**अस्य च्वौ**') संस्कृत व्याकरण के इस नियमानुसार देखें तो यहाँ 'ब्रह्मीभूत' शब्द होना चाहिये था। क्योंकि (उपरोक्त सूत्रानुसार '**अभूत-तद्भावे च्विः**' ऐसा होना चाहिये, अर्थात्) 'पहले वैसी न रहनेवाली वस्तु बाद में वैसी होने से' उसमें होनेवाले उस परिवर्तन को दिखाने के लिये उस वस्तु-वाचक संज्ञा का अंत्य अकार ईकार में परिणत हो जाता है। (**अभूततद्भाव इति वक्तव्यम्। अवर्णस्य ईत्स्यात् च्वौ।**) उदाहरणार्थ, शुक्लीभूत – जो वस्तु शुक्ल अर्थात् सफेद नहीं थी, वह शुक्ल बन गयी है यह दिखाने के लिये 'शुक्लीभूत' शब्द का प्रयोग होगा – 'शुक्लभूत' का नहीं।

ठीक उसी प्रकार स्पष्ट ही कहा जाये तो यहाँ 'ब्रह्मभूत' शब्द का प्रयोग 'व्याकरण की दृष्टि' से गलत है।

परन्तु उस 'ज्ञाननिष्ठ' साधक की अनुभूति की दृष्टि से यह बिल्कुल ठीक है। इतना ही नहीं, बल्कि उसके लिए तो 'ब्रह्मीभूत' शब्द का प्रयोग उसकी अनुभूति की दृष्टि से 'पूर्णतः' गलत है। और इसीलिये 'मोक्षशास्त्र' कहलानेवाली भगवती गीता ने लौकिक व्याकरण-शास्त्र की निःशंक भाव से उपेक्षा करके इस अति यथार्थ, अति सार्थक, अति अनुभूति-बोधक शब्द का प्रयोग किया है।

सो किस प्रकार?

इस प्रकार – 'मैं' तथा 'जगत्' नामरूपात्मक, असत्, मिथ्या होने से, वह एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्द प्रभु ही 'मेरे' तथा 'जगत्' के नाम-रूप में विलसित हो रहा है, इस 'मूलभूत सत्य' के प्रति इस साधक का गुरु-शास्त्र-लब्ध 'विश्वास' कर्म-निष्ठा के आचरण से 'अनुभव' में परिणत होने से फिर वह साधक, विषय-राग-द्वेष, लोकसंग आदि विक्षेपों का शमन करके उस 'अनुभव' में अधिकाधिक डूबते डूबते अन्ततः उसमें दृढ़-प्रतिष्ठित हो जाता है – ज्ञाननिष्ठ बन जाता है। उस समय उसे ऐसा अनुभव नहीं होता कि 'मैं' (सत्य या मिथ्या) 'हूँ' और ऐसा ऐसा मैं, साधना के द्वारा अब ब्रह्म या प्रभु से 'एक हो गया' – ब्रह्म 'बन गया'। बल्कि उसे ऐसा अनुभव होता है कि वस्तुतः मैं नहीं हूँ, कभी भी नहीं था, मैं 'स्वरूपतः' ब्रह्म या वह प्रभु ही हूँ, केवल अज्ञान के कारण मैं अपना अलग अस्तित्व मानता था या मान रहा हूँ। अर्थात् वह साधक अब तक की साधना से पवित्र बनकर अब ब्रह्म 'बनता' नहीं है, बल्कि अब तक की साधना से चित्त शुद्ध होने के कारण अब उसे स्पष्ट ज्ञान हो जाता है कि मैं पहले से ही स्वरूपतः ब्रह्म ही हूँ, केवल अज्ञान के कारण पृथक् हो गया हूँ – 'मैं' सत्य भी नहीं हूँ, मिथ्या भी नहीं हूँ, 'मैं' तो मूलतः हूँ ही नहीं, हैं तो केवल सर्वमय प्रभु ही। तात्पर्य यह कि साधक अब्रह्म से 'अब' ब्रह्म (ब्रह्मीभूत) नहीं होता, बल्कि ब्रह्म का ही ब्रह्म (ब्रह्मभूत) होता है – उसे अब बोध होता है कि वह स्व-स्वरूपतः ब्रह्म ही है। अर्थात् मैं ब्रह्म ही हूँ (अहं ब्रह्मास्मि) – मैं उन सर्वमय प्रभु से अभिन्न हूँ', उसका अब का अभेदबोध केवल उसी मूलभूत सत्य का शुद्ध चित्त में प्रस्फुटन (flash of the Basic Truth) होता है। इसी कारण गीता में 'ब्रह्मीभूत' न कहते हुए व्याकरण की दृष्टि से भूल, पर अनुभवद्योतक 'ब्रह्मभूत' शब्द का प्रयोग किया है।

इस वस्तुस्थिति को ज्ञानेश्वर महाराज ने निम्नलिखित सुबोध शब्दों में व्यक्त किया है – "पैं तेंचि होणें नवीण। प्रतीती आलें जे ब्रह्मपण" – अर्थात् "मैं स्वयं ब्रह्म हुआ नहीं हूँ, मैं तो मूलतः ब्रह्म ही हूँ, इसकी प्रतीति उसे होती है।"

और इस प्रकार यह अभेदबोध उस साधक के स्व-रूप का आविष्कार होने के कारण, वह उसे स्वयं के 'स्व-रूप' में ही – शरीर में, इन्द्रियों में, मन में तथा बुद्धि आदि में

नहीं, अपितु स्वयं की 'सत्ता' (being) में ही अनुभव होता रहता है। अर्थात् वह अनुभव first hand या immediate (प्रत्यक्ष या अपरोक्ष) होता है, इसीलिये gapless (भेद-व्यवधान-हीन) होता है और इसीलिए 'परम' (maximum), उत्कट या सघन (intense) होता है। यह अलग से बताने की आवश्यकता ही नहीं कि वह continuous (निरन्तर) तैलधारा के समान अविच्छिन्न होता है। क्योंकि वह स्व-रूप का आविष्कार होता है और स्व-रूप तो सदा निरन्तर एक-सा ही रहेगा; इसीलिये तो उसे 'स्व-रूप' कहते हैं। स्वरूप में व्यभिचार – परिवर्तन या बदलाव नहीं होता।

यह स्वरूप-आविष्कारजन्य अभेदबोध उस साधक को अब तक (कर्मसिद्ध या ज्ञाननिष्ठा-योग्य होने के बाद से अभी तक) होता था ही, पर अब तक उसके चित्त या बोध में 'मैं-मेरा', 'विषयी-विषय' का बोध अब के अनुपात में अत्यधिक होने के कारण उस अभेदानुभूति की प्रत्यक्षता या अपरोक्षता, भेद-व्यवधानहीनता, उत्कटता, सघनता, निरन्तरता या अनवच्छिन्नता आदि सब comparatively (उसी अनुपात में) थे। अब, अभी तक के विक्षेप-शमन रूपी नकारात्मक (negative) तथा ध्यानयोग रूपी सकारात्मक (positive) साधना के कारण उसका चित्त 'परम' शुद्ध – विषयी-विषय-सत्यत्व-बोधरहित होने के कारण उसके उस अभेदानुभूति के उपरोक्त प्रत्यक्ष आदि घटक या पहलू भी अब 'पराकोटि' के होते हैं।

इसीलिये प्रभु ने उसे 'ब्रह्मभूत' कहा है। और इसीलिए भगवत्पूज्यपाद श्रीशंकराचार्य ने इस 'ब्रह्मभूत' का अर्थ बताया है – 'ब्रह्मप्राप्त'।

अर्थात् अब वह ब्रह्म बन चुका या ब्रह्म तक पहुँच चुका होता है।

परन्तु यदि वह 'सचमुच ही' ब्रह्म बन चुका या ब्रह्म तक पहुँचा हुआ होता, तो प्रभु का उसकी साधना के बारे में बोलना यही समाप्त हो जाना चाहिए था। पर वह समाप्त नहीं हुआ। उसे ब्रह्मभूत या ब्रह्मप्राप्त कहने के बाद प्रभु तत्काल उसकी आगे की साधना का वर्णन करते हैं। इसका अर्थ यही है कि वह ब्रह्म होकर भी 'सच्चे अर्थों में' 'ब्रह्म' बना नहीं है। वह 'ब्रह्मप्राप्त' होता है, ब्रह्म तक पहुँचा हुआ होता है, पर इसी कारण उसके बोध में, उसके उस अपरिमित ऐक्यानुभव में अभी भी 'पहुँचनेवाला' 'पहुँचा हुआ' तथा 'पहुँचना' – यह भाव, यह भेद रह ही जाता है! – अनुभव लेनेवाला, अनुभूत वस्तु तथा अनुभव ये घटक – यह 'त्रिपुटी' रह ही जाती है!

तात्पर्य यह है कि 'निर्दिष्ट स्थान' आ जाने पर 'मार्ग' तो समाप्त हो जाता है, परन्तु अब भी गाँव के 'अपने घर' (स्वधाम) तक जाना है, अत: 'गति' समाप्तप्राय ही होती है। 'मार्ग' समाप्त हो चुका है, पर 'यात्रा' अभी शेष है। ज्ञानेश्वर की मधुर शैली में कहें तो –"पुनवेहुनी चतुर्दशी! जेतुलें उणेपण शशी" – पूर्णिमा की अपेक्षा चौदहवीं तिथि की चन्द्र-कला में जितनी कमी रहती है, उतनी ही अब भी है! सिर्फ एक तिथि का – चाँद के एक ही कदम का अन्तर है। पर अन्तर तो अन्तर ही है।

* * *

ठीक है। तब? इसके बाद उसका क्या होता है? प्रभु कहते हैं कि वह ब्रह्मभूत साधक 'प्रसन्नात्मा' बन जाता है।

उसे अपने भीतर तथा बाहर – सर्वत्र एकमेवाद्वितीय प्रभु का ही बोध होने के कारण, उसे अन्तर्बाह्य कहीं भी दूसरा और कुछ भी प्रतीत नहीं होता – विपरीत-बोध तो जरा भी बाकी नहीं बचता। इस कारण स्वाभाविक रूप से ही आसक्ति तथा द्वेष – चित्त को अस्वच्छ या कलुषित या अप्रसन्न करने वाली प्रेरणा पूर्णत: विलीन हो जाती है। (क्योंकि आसक्त होने के लिये या द्वेष करने के लिए 'वस्तु' तो चाहिए न? पर उसे तो अब सब कुछ प्रभुमय दिखने लगा होता है।)

इसलिए उसकी आत्मा या अन्त:करण या चित्त अब 'प्रसन्न' यानी परम शुद्ध, स्वच्छ, निर्मल, निस्तरंग हो जाता है। और इस प्रकार के परम पारदर्शी चित्त में तल में स्थित वे प्रभु कितनी उत्कटता से, कितनी सघनता से बोध में आते होंगे! और वे प्रभु भी कैसे हैं? – सत्-स्वरूप, चित्-स्वरूप और आनन्द-स्वरूप! अत: अब उस अभंग ध्यानावस्था में उस साधक की सत्ता (being) 'ऊर्फ' उसकी चेतना (conscious-ness) स्व-स्वरूपाभिव्यक्ति-जन्य अ-निर्वचनीय आनन्द से 'लबालब' भर जाती है! इसी को प्रभु ने 'प्रसन्नात्मा' कहा है। लौकिक व्यवहार में भी निर्मल आनन्द व्यक्त करते समय हम कहते हैं – मुझे कितनी 'प्रसन्नता' हो रही है!"

अर्थात् ऐसा नहीं है कि इसके पहले उसे आनन्द नहीं होता था। परन्तु अब उस आनन्द की मात्रा इतनी उत्कट, इतनी विलक्षण रहती है कि प्रभु को इसका विशेष रूप से उल्लेख करना पड़ा है।

वैसे मैं एवं जगत्, विषयी तथा विषय – नामरूपात्मक मिथ्या होने से वह सर्वातीत सर्वगत एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्द प्रभु ही इन नाम-रूपों में खेल रहा है। इस गुरु-शास्त्र-लब्ध सत्य में 'विश्वास' कर्मनिष्ठा के आचरण से 'अनुभव' का रूप लेते ही – अर्थात् साधक के 'सत्यानुभूति का द्वार' खुलते ही – उसे स्वयं की सत्ता में आनन्द का बोध होना आरम्भ हो चुका होता है। परन्तु अब तो सत्य की उस अनुभूति को, 'मैं और वे सर्वमय प्रभु एक ही हैं' – इस अद्वैतानुभव में सर्वोच्च 'ज्वार' आ चुका होता है। अत: आनन्द भी अब पूरे 'उफान' पर आ जाता है। इसीलिये उसका विशेष उल्लेख हुआ है!

ठीक। पर प्रभु ने उसे सीधे 'आनन्दपूर्ण' ही क्यों नहीं कहा? 'प्रसन्नात्मा' कहने का क्या कारण हो सकता है?

यह उचित तथा मार्मिक प्रश्न है, अन्तदृष्टि का बोधक है, इसीलिये इसका उत्तर भी वैसा ही अर्थात् सूक्ष्म होगा।

वह ऐसा है कि 'अनुकूल संवेदना या भाव निर्माण करनेवाली स्थूल-सूक्ष्म वस्तुओं के साथ इन्द्रियों तथा मन का संयोग होने से उससे पैदा होनेवाली सुखमय चित्तवृत्ति' को ही हम निरपवाद रूप से आनन्द समझते हैं। पर इस 'ब्रह्मभूत' का या 'ब्रह्मप्राप्त' का यह आनन्द ऐसा स्थूल या सूक्ष्म विषयी-विषय-सम्पर्क-जनित बिलकुल नहीं होता। इसके विपरीत, उसका विषयी-विषय बोध ज्ञानोद्भासित हो जाने से, सत्य की अनुभूति से आलोकित हो जाने से, चित्त-वृत्तियाँ नितान्त निर्मल-निस्तरंग अर्थात् 'प्रसन्न' हो जाने से, उस चित्त के तल में स्थित वह आनन्दघन उनमें अभिव्यक्त होता रहता है। वैसा होना अपरिहार्य और स्वाभाविक (natural) भी है। जो चित्त पारदर्शी या प्रसन्न हुआ कि उस चित्त के तल का स्वरूपभूत आनन्दघन उसमें अभिव्यक्त होगा ही। इसीलिए प्रभु ने उस ब्रह्मभूत साधक को 'आनन्दपूर्ण' नहीं, अपितु कहा है कि उसकी 'आत्मा' अर्थात् अन्तःकरण 'प्रसन्न' हो जाता है – वह 'प्रसन्नात्मा' बन जाता है। ब्रह्मप्राप्ति का यह आनन्द विषयी-विषय-सम्पर्क-जनित न होकर, स्व-स्वरूप-अभिव्यक्ति-जनित होता है – स्वरूपसिद्ध या स्वाभाविक (natural) होता है। यह बताने के लिये ही प्रभु ने जान-बूझकर 'प्रसन्नात्मा' शब्द का प्रयोग किया है।

* * *

ठीक है। समझ गया। फिर? इसके बाद क्या होता है?

प्रभु कहते हैं – **न शोचति न कांक्षति** – अपनी किसी वस्तु की हानि हुई है या स्वयं के भीतर कोई लौकिक दोष या कमी दिखाई दी इसलिए वह शोक नहीं करता या फिर अमुक वस्तु प्राप्त हो, ऐसी आकांक्षा वह नहीं रखता। (कुछ प्रतियों में 'कांक्षति' के स्थान पर 'हृष्यति' लिखा मिलता है। इसका अर्थ है – कोई वस्तु मिलने पर उसे हर्ष नहीं होता।)

आकांक्षा-हर्ष-शोक से वह जरा भी विचलित नहीं होता, यहाँ यह बात विशेष जोर देकर बताने का कारण यह है कि हम सभी का मन इन भावनाओं या इन वृत्तियों से सतत विचलित होता रहता है। 'जीवन' का अर्थ ही है आकांक्षा, हर्ष तथा शोक। इच्छा पूरी हुई तो उल्लास, नहीं हुई तो विषाद! सतत ऊपर-नीचे झूलना-झूलाना चलता ही रहता है। ऐसे क्षुब्ध मन में वह 'तल' कैसे दिखेगा? इसीलिये प्रभु कहते हैं कि उस ब्रह्मभूत का, उस ज्ञाननिष्ठ का मन इस तरह के हिंडोलों से पूर्णतः मुक्त हो चुका होता है।

और ऐसा नहीं है कि आकांक्षा-हर्ष-विषाद न करना 'अब' उसे 'प्रयत्न' करके साधना पड़ता हो। अब तक की यात्रा में 'प्रयत्न' अल्पाधिक मात्रा में था। पर 'अब' प्रयत्न की जरूरत ही क्या है? क्योंकि वह 'अब' किसकी आकांक्षा रखेगा, किस कारण हर्षित होगा, किसका शोक करेगा? क्योंकि अब उसे स्वयं में तथा सभी वस्तुओं में – सर्वत्र सच्चिदानन्द प्रभु ही दिखाई देते हैं – अब उसे स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगता है कि मैं और जगत् उन लीलामय का ही लीला-विलास है। इसीलिए आकांक्षा आदि न होना उसके लिए स्वाभाविक हो जाता है – इसके लिये यत्न, परिश्रम या संघर्ष नहीं करना पड़ता। श्री शंकराचार्य कहते हैं – "**ब्रह्मभूतस्य अयं स्वभावः अनुद्यते ... न हि अप्राप्त-विषयाकांक्षा ब्रह्मविदः उपपद्यते** – यह केवल उस ब्रह्मभूत स्वभाव का वर्णन है, क्योंकि ऐसी इच्छा उसमें होना अब स्वभावतः असम्भव हो चुका होता है कि अमुक वस्तु मेरे पास नहीं है, वह मुझे चाहिए।" सारांश, ये सब 'ज्ञाननिष्ठा' के, साधक के बोध के – उसकी स्वयं की सत्ता में आनेवाले सर्वातीत-सर्वगत एकमेवाद्वितीय प्रभु के प्रत्यक्ष-अनुभूति के सहज-स्फूर्त 'परिणाम' (effects) होते हैं।

* * *

इसके बाद? इसके बाद क्या होता है?

"**समः सर्वेषु भूतेषु** – उसके अन्तर में सभी भूतों के विषय में समत्वबोध उत्पन्न होता है।"

इस पर श्रीधर कहते है – **सर्वेषु अपि भूतेषु समः सन्, राग-द्वेषादि-कृत विक्षेप अभावात्** – "सभी प्राणी उसे समान लगते हैं, क्योंकि (उन प्राणियों के विषय में सत्यत्व-बोध न होने के कारण) किसी के भी बारे में उसे आसक्ति या तिरस्कार, पसन्द या नापसन्द का भाव आना सम्भव ही नहीं है।"

यह तो हुआ नकारात्मक (negative) पक्ष – अर्थात् क्या 'नहीं है'। उसमें आसक्ति या तिरस्कार का भाव नहीं होता।

ठीक है; तो फिर क्या होता है? श्री शंकराचार्य कहते है – **आत्मौपम्येन सर्वेषु भूतेषु सुखं दुखं वा समम् एव पश्यति** – "दूसरों के सुख को वह एकदम स्वयं के सुख जितना ही, तथा दूसरों के दुख को भी स्वयं के दुख जितना ही (जरा भी कम नहीं) महत्त्व देने लगता है।"

अर्थात् दूसरों के सुख-दुख दोनो ही अब उसे अच्छी तरह से 'अनुभव' होने लगते है! दूसरों के सुख से सुखी तथा दूसरों के दुख से दुखी होने की यथार्थ शक्ति अब उसमें उत्पन्न हो जाती है और 'अब' वह 'इतनी मात्रा' में उत्पन्न होती है कि यहाँ प्रभु को उसका जान-बूझकर विशेष रूप से महत्त्व देकर उल्लेख करना पड़ा है। (अलग से बताने की आवश्यकता नहीं कि यहाँ 'ज्ञाननिष्ठों' के केवल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, आवश्यक लक्षण ही बताये गये हैं। उन लक्षणों में यह लक्षण भी आता है, अतः उसका यहाँ जान-बूझकर उल्लेख हुआ है।)

ध्यान देने योग्य बात यह है कि सच्चे धर्म से व्यक्ति 'शुष्क' नहीं बनता, बल्कि सच्चे अर्थों में 'सहृदय' बनता है – उसके हृदय का 'विकास' होता है। कहते हैं कि 'दया धर्म का मूल है' और प्रभु के कथनानुसार 'दया धर्म का फल' भी है। तो भी यह फल अभी उसे पूर्णत: मिला नहीं है, अब भी वह साधक ही है। वह 'फल' पूर्णत: प्राप्त होने के बाद की 'हृदयवत्ता' के बारे में क्या पूछें? और बतायें भी क्या!

और यह स्वाभाविक ही है। जहाँ 'स्व' है वहाँ 'स्वार्थ' होगा ही। इस साधक का 'स्व'-बोध अब स्व-स्वरूप के 'आत्मबोध' से उद्भासित हो चुका होता है, उज्ज्वल बन चुका होता है। अत: वह अब अपनी आत्मा को, अर्थात् 'सच्चे स्वयं' को अपने तथा दूसरों में देखता है – अनुभव करता है। अत: स्वाभाविक ही है कि अब सबके सुख तथा दुख उसे स्वयं के ही सुख-दुखों के समान अनुभव होने लगते हैं।

इसी को Universal Love – सार्वलौकिक प्रेम कहते हैं। यह तथाकथित मानवप्रेम (Humanism) की तुलना में 'प्रकार' (category) की दृष्टि से ही भिन्न होता है, क्योंकि उसे मानव 'मानव' नहीं दिखता, बल्कि सच्चिदानन्द प्रभु ही उसके अपने तथा सभी लोगों के नाम-रूप में विलास करते दीख पड़ते हैं, 'अनुभूत' होते हैं और 'इसलिए' उसमें प्रेम-द्वेष या आसक्ति-तिरस्कार नहीं होते; होता है – आत्मौपम्य।

और इसीलिए उसकी आकांक्षा-हर्ष-शोक-राहित्य के समान ही यह सार्वभौमिक प्रेम भी उसे 'यत्नपूर्वक' 'जबरदस्ती कर' 'करना' नहीं पड़ता, वह उसकी ओर से 'अपने आप' (spontaneously) सहज भाव से 'होता है', यह उसकी ज्ञाननिष्ठा का – आत्मैक्य-बोध का परिणाम होता है। यह अपने आप उसका अनुसरण करता है – उसका स्वभाव ही हो जाता है।

अर्थात्, जैसा कि बताया गया – यह 'आत्म-सम-दर्शन' होता है 'आत्मदर्शन' नहीं। भले ही अति सूक्ष्म रूप से, पर प्रेमी-प्रेमास्पद-प्रेम का भेद अब भी उसके बोध में रहता है।

– ७ –

अच्छा, अब भी रहता है। तो फिर इसको इस अद्वैतवृति में से यह द्वैत कब और कैसे जायेगा? अरे, उसे यह इतना दुर्लभ सब मिला, ब्रह्म-प्राप्ति हुई, उत्कटतम निर्मल आनन्द-लाभ हुआ, आकांक्षा-हर्ष-शोक-राहित्य मिला, आत्मौपम्य रूप सार्वलौकिक प्रेम मिला, फिर अब उसे और क्या चाहिए, जिससे अब भी उसके चारों ओर घूमनेवाला द्वैतभाव पूर्ण विलय को प्राप्त हो जाय?

हाँ, अभी उसे एक वस्तु और भी प्राप्त होने की है। वह एक बार मिल गई कि फिर 'और' कुछ प्राप्त होने को बाकी नहीं बचता। फिर तो बस 'शुद्ध' ब्रह्मलाभ ही है। वह विशेष वस्तु एक ऐसा विचित्र रसायन (chemical) है, जिसे पाकर उसकी उस अद्वैतवृत्ति में भलीभाँति ओतप्रोत होते ही तत्क्षण, तत्काल, उस अद्वैतवृत्ति की 'वृत्ति' सदा के लिये 'नि:शेष' – पिघलकर केवल 'शुद्ध या खरा अद्वैत' बच रहता है।

अच्छा, तो उसे ऐसा कौन-सा रसायन मिल जाता है?

प्रभु अब वही बता रहे है – "**मद्भक्तिं लभते पराम्** – उसे मेरी परा-भक्ति प्राप्त हो जाती है।"

* * *

अर्थात्? अर्थात् अब तक उसमें भक्ति नहीं थी क्या?

अवश्य थी, परन्तु 'अब' की इस भक्ति की जाति ही अलग है। इसीलिए तो प्रभु ने उसके साथ असन्दिग्ध, विशेषता दिखानेवाला विशेषण लगाया है – 'परा'।

ठीक है। अब उसे पराभक्ति प्राप्त होती है। परन्तु इससे 'क्या' होता है?

भगवत्पूज्यपाद श्री शंकराचार्य बताते है – **मयि परमेश्वरे भक्तिं भजनं पराम् उत्तमां ज्ञानलक्षणां चतुर्थीं लभते** – "मैं जो परम ईश्वर हूँ, उस मेरे प्रति उसे भक्ति अर्थात् मुझे भजने का भाव प्राप्त होता है। यह चौथी भक्ति उत्तम (और आर्त, अर्थार्थी एवं जिज्ञासु – तीनों अर्थात्) सबसे श्रेष्ठ है। ज्ञान ही उसका लक्षण अर्थात् स्वरूप है।"

ठीक है, लेकिन आप जो कहते हैं कि – "मैं और जगत् नहीं हैं, वे प्रभु ही मेरे तथा जगत् के नाम-रूपों में विलस रहे हैं, वह सर्वातीत-सर्वगत एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्द प्रभु मैं हूँ, मैं वही प्रभु हूँ" – यह ऐक्यबोध, यह अभेदज्ञान तो उसके चित्त में कब से ही सतत स्फुरित हो रहा है, इसीलिये तो इस अवस्था को आप 'ज्ञाननिष्ठा' कहते हैं; तो फिर अभी ऐसा क्या घटित हो गया, अब उस ज्ञान में या उस बोध में या उस अनुभव में ऐसा क्या परिवर्तन हो गया जिसके कारण (प्रभु को) उसी ज्ञानानुभव को अब परा-'भक्ति' कहना पड़ा?

* * *

बताते हैं।

आपको ध्यान होगा – प्रभु ने कहा था कि अब तक के अकरणात्मक (negative) तथा करणात्मक (positive) साधना के द्वारा शुद्ध, निर्मल-निस्तरंग हो चुके उस साधक के चित्त में अपना व जगत् का स्व-रूप अभिव्यक्त होता है; और इसीलिए उसे स्व-स्वरूपभूत, मूलभूत सत्य (Basic Truth) का प्रत्यक्ष अनुभव होने लगता है कि 'मैं' तथा जगत् सत्य भी नहीं है या मिथ्या भी नहीं है, वे हैं ही नहीं, हैं तो मात्र सर्वातीत-सर्वमय प्रभु ही और वह सर्वमय प्रभु ही मैं हूँ, मैं ही वह सर्वमय प्रभु हूँ, मैं तथा प्रभु अभिन्न हैं, एक हैं। (अहं ब्रह्मास्मि)

एकता का यह बोध साधक के स्व-स्वरूप की ही अभिव्यक्ति होने के कारण वह उसे अपने स्वरूप में, अर्थात्

स्वयं की सत्ता (being) में अनुभूत होने लगता है। और यह स्वरूपाभिव्यक्ति स्वयं की सत्ता में अनुभूत होने के कारण यह ऐक्यानुभव चरम प्रत्यक्ष या अपरोक्ष (direct or immediate) होता है, और इसीलिये अत्यधिक सघन भी होता है।

इस परमोत्कट अपरोक्ष अभेद-अनुभव में वह साधक अब तक स्थिर-प्रतिष्ठित हो चुका होता है। और हम देख आये हैं कि प्रभु ने इस वस्तुस्थिति को 'ब्रह्मभूत' रूप मार्मिक शब्द द्वारा सटीक भाव से निरूपित किया है।

और इसके साथ ही प्रभु का यह कथन भी स्मरण होगा कि यह अभेदानुभूति या ऐक्यानुभूति केवल प्रबल रूप से अपरोक्ष ही नहीं होती, अपितु उतनी ही प्रबलता के साथ आनन्दमय भी होती है। क्योंकि उस परम-शुद्ध चित्तवृत्ति में अभिव्यक्त होनेवाला वह स्वरूपभूत प्रभु, स्वरूपत: केवल सत् या चित् ही नहीं, अपितु स्वरूपत: ही 'आनन्द' भी होता है। इसीलिए उस स्वरूपभूत सत्-चित्-आनन्द प्रभु की उस साधक के स्वयं के उस विशुद्ध चित्तवृत्ति में बोध में आनेवाली यह स्वरूपाभिव्यक्ति – अभेद या ऐक्य का यह बोध उत्कट रूप से अपरोक्ष तथा उत्कट रूप से आनन्दमय होता है। सारांश यह कि उस साधक तथा जगत् के सच्चे स्व-रूप में रहनेवाला वह एकमेवाद्वितीय प्रभु सत्, चित् तथा आनन्द होने के कारण उस साधक के स्वरूप (प्रत्यगात्मा) में होनेवाली प्रभु की अभिव्यक्ति, अर्थात् स्वयं के परम-शुद्ध चित्तवृत्ति में उस साधक के बोध में आनेवाला वह अभेद बोध (चित्) प्रबल-रूप से अपरोक्ष (सत्) तथा प्रबल-रूप से आनन्दमय (आनन्द) होता है। प्रबल-रूप में अपरोक्ष होनेवाले इस अभेदबोध की यह आनन्द-मयता को प्रभु ने 'प्रसन्नात्मा' रूप इस सटीक शब्द के द्वारा व्यक्त किया है, यह भी स्मरण होगा।

संक्षेप में कहें तो, अब उस साधक को "वह सर्वमय प्रभु और मैं एक हैं" – सतत यह आनन्दमय ऐक्यानुभूति होने लगती है और वह आनन्द, वह ऐक्यबोध तथा वह अपरोक्षता में सब स्व-स्वरूपाभिव्यक्ति-जनित होने के कारण ये तीनों चरम परिमाण में होते हैं।

अब बताइए कि हम 'प्रेम' किसे कहते है? अपने प्रियतम के साथ ऐक्य (मिलन) के अपने आनन्दपूर्ण स्वानुभव को ही तो हम लौकिक व्यवहार में 'प्रेम' कहते हैं न!

इस लौकिक आनन्दमय ऐक्यानुभव का विषय कोई जीव होता है, इसीलिए उसे 'प्रेम' कहते है। वह विषय यदि ईश्वर हो, तो उसी आनन्दमय ऐक्यानुभव को 'भक्ति' कहते है।

ईश्वर के विषय में इस आनन्दमय ऐक्यानुभव में जब तक भक्त के मन में – 'मैं' भक्त हूँ और 'तुम' भगवान हो – ऐसा स्थूल या सूक्ष्म 'भेदबोध' होता है, तब तक उसे निम्न स्तर की या 'अपरा' भक्ति कहा जा सकता है।

और यह भक्त-भगवान का भेदबोध जब उस ऐक्यानुभूति से ज्ञानोद्भासित होकर लुप्तप्राय हो जाता है, तब उस ऐक्यानुभूति को 'परा भक्ति' कहना होगा।

* * *

यह सब ध्यान में रखते हुए – इस पार्श्वभूमि को ध्यान में रखकर अब हम उस 'ज्ञाननिष्ठ' या 'ब्रह्मभूत' साधक की इस समय की मामसिक अवस्था की ओर मुड़ते हैं।

हमें क्या दिखाई देता है? दिखाई देता है कि "मैं और जगत् हैं ही नहीं, है तो केवल सर्वातीत-सर्वगत एकमेवाद्वितीय सच्चिदानन्द प्रभु ही, वही इन सब नाम-रूपों के माध्यम से लीला-विलास कर रहा है; वह प्रभु और मैं एक ही है, अभिन्न है" – उस साधक को अति प्रबल रूप में स्वयं की सत्ता में, अर्थात् अपरोक्ष रूप में ऐसी एकता की परमानन्दमय अनुभूति हो रही है, क्योकि वह स्व-स्वरूपाभिव्यक्ति-जनित है। और वह साधक उस ऐक्यानुभूति से जरा-सा भी विचलित हुए बिना उस अनुभव को चित्त में सतत, निरन्तर, अखण्डित रूप से दुहराने का प्रयत्न कर रहा है। इसी बात को भगवत्पूज्यपाद श्री शंकराचार्य के शब्दों में कहें तो – **प्रत्यगात्म-विषयप्रत्यय-सन्तान-करण अभिनिवेश: च ज्ञाननिष्ठा** – "वह सर्वमय प्रभु ही मेरी आत्मा, मेरी सत्ता है – इस अनुभूति में व्यवधान न आने देने का आग्रह ही ज्ञाननिष्ठा है।"

चित्त में यह अनुभूति निरन्तर व्याप्त रहने पर धीरे धीरे साधक के चित्त की ऐसी दशा हो जाती है कि उस अनुभूति का 'अनुभव लेनेवाला' ('मैं') उस ज्ञानानुभूति से जितना उद्भासित होना या प्रकाशित (illumined by knowledge) होना सम्भव है, अर्थात् जितना घटना या कम होना 'सम्भव' है, उतना ही वह उद्भासित होता है, प्रकाशित होता है, घटता है, कम होता है, तनु होता है। अर्थात् चित्त का 'जितना' निर्मल-निस्तरंग-पारदर्शी होना 'सम्भव' है, 'उतना' अब वह हो जाता है। और इसलिए उस चित्ततल का वह एकमेवाद्वितीय सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन प्रभु भी जितनी प्रबलता से, जितनी सघनता से, जितनी घनीभूतता से, जितनी गहनता से उस 'चित्तवृत्ति' में अनुभव होना 'सम्भव' है, उतनी मात्रा में अब वह उस साधक के अपरोक्ष अनुभव में आने लगता है। अर्थात् उसकी सम्पूर्ण सत्ता या उसका सम्पूर्ण अस्तित्व, दूसरे शब्दों में कहें तो उसका सम्पूर्ण बोध इस ऐक्यानन्द के अनुभव से; अब अन्त में 'पूरी तौर से' लबालब भर जाता है। अब उसमें आनन्द की एक भी अतिरिक्त बूँद को समाने के लिए जगह नहीं बचती!

(क्रमश:)

स्वामी आत्मानन्द

'वसुधैव कुटुम्बकम्' विराट् ममत्व का बोधक है। इसकी व्याख्या में एक संस्कृत सुभाषित है, जो कहता है -

अयं मम परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

- अर्थात् जो लघुचेता हैं, क्षुद्र स्वार्थों में जकड़े हुए हैं, वे 'यह मेरा है और यह दूसरे का' - इस प्रकार की भावना रखते हैं, पर जिनका चरित्र उदार है, उनके लिए तो सारी वसुधा ही कुटुम्ब है।

भारतीय संस्कृति अपने इस उदार चरित्र के लिए प्रसिद्ध रही है। उसकी विशेषता यही रही है कि उसने अपने आपको किसी एक भाषा, धर्म, या नृवंश के भीतर सीमित नहीं किया, प्रत्युत समस्त भाषाओं, जातियों, धर्मों और नृवंशों को अपने वक्ष में स्थान दिया है। इस भारतीय संस्कृति के गठन और विकास में जैन-धर्म की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है, जिसके कतिपय उल्लेखनीय पक्षों पर हम विचार करेंगे।

संसार की पीड़ा का एकमात्र कारण यह है कि मनुष्य अति भोगवादी हो गया है। ऐसा व्यक्ति अहं-केन्द्रित हो जाता है, और जब समाज में दो व्यक्तियों का अहं टकराने लगता है, तो उससे सारे झगड़े और फसाद जन्म लेते हैं। राष्ट्र और विश्व के स्तर पर भी यही सत्य लागू होता है। विश्व ने जो दो महायुद्ध देखे हैं, उनका कारण कतिपय व्यक्तियों के अहं का टकराव ही है। इस सन्दर्भ में डॉ. जोशिया ओल्डफील्ड के उद्गार मननीय हैं। उनका कथन है - "More wars are caused by bad tempered people discussing peace propositions than by good tempered people discussing war measures." - अर्थात् ''दुर्वृत्ति-सम्पन्न व्यक्ति जब शान्ति के उपायों पर चर्चा करते हैं, तो उससे कहीं अधिक युद्ध जन्म लेते हैं, बनिस्बत इसके कि जब सद्‌वृत्ति-सम्पन्न व्यक्ति युद्ध के तौर-तरीकों पर विचार-विमर्श करते हैं।''

वास्तव में, मनुष्य के मन की वृत्ति ही उसे या तो संकुचित बनाती है, या उदार। भारत में सदैव से इस मनोवृत्ति के संस्कार की शिक्षा दी जाती रही है। एक मनोवृत्ति वह है, जिससे व्यक्ति स्वार्थपरायण, दुराग्रही और हिंसाप्रिय बनता है। आज सर्वत्र ऐसी ही मनोवृत्ति का खेल दिखायी देता है। यह वस्तुतः पाशविक मनोवृत्ति है, जिसे गीता ने 'आसुरी' कहकर पुकारा है। वह 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना के सर्वथा विपरीत है। दूसरी मनोवृत्ति वह है जिसे गीता ने 'दैवी' कहा। दैवी वृत्ति से सम्पन्न व्यक्ति विश्व-बन्धुत्व की भावना का विकास करता है। सर्वभूतों के प्रति अहिंसा और प्रेम की दृढ़ भित्ति पर वह खड़ा रहता है। गीता (१६/९-१५) में आसुरी भाव का सुन्दर चित्रण हुआ है। उससे मालूम पड़ता है कि 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना के विकास में बाधक तत्त्व क्या हैं। वहाँ कहा गया है -

प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः।
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः॥
मोहाद्‌गृहीत्वासद्‌ग्राहान् प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः।
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः॥
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः।
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः॥
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसंचयान्।
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्॥
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्।
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि॥
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी।
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया॥

- अर्थात् ''आसुरी वृत्तिवाले मनुष्य क्रूरकर्मा होते हैं और केवल जगत् नाश करने के लिए ही उत्पन्न होते हैं। वे दम्भ, मान और मद से युक्त होते हैं। वे किसी भी प्रकार पूरी न होनेवाली कामनाओं का सहारा लेकर तथा अज्ञान से मिथ्या सिद्धान्तों को ग्रहण कर, भ्रष्ट आचरणों से युक्त हुए संसार में बर्तते हैं। वे मृत्यु-पर्यन्त बनी रहनेवाली अनन्त चिन्ताओं से घिरे रहते हैं और ऐसा स्थिर सिद्धान्त किये रहते हैं कि विषयों का भोग ही जीवन का परम लक्ष्य है। वे शत-शत आशारूप जंजीरों से जकड़े हुए, काम-क्रोध के परायण हो विषय-भोगों की पूर्ति के लिए अन्यायपूर्वक धनादिक बहुत-से पदार्थों को संग्रह करने की चेष्टा करते हैं। वे ऐसा सोचते हैं कि - आज मैंने पाया है और अब इस मनोरथ की पूर्ति करूँगा। आज मेरे पास इतना धन है और भविष्य में इतना पैसा और इकट्ठा करूँगा। आज वह शत्रु मेरे द्वारा मारा गया, अब दूसरे शत्रुओं को भी मैं मारूँगा। मैं ईश्वर हूँ, समस्त ऐश्वर्यों का भोग करनेवाला हूँ, मैं सारी सिद्धियों का स्वामी हूँ, बलवान् और

सुखी हूँ। मैं बड़ा धनवान् हूँ, मेरे इतने नौकर-चाकर हैं। मेरे समान भला दूसरा और कौन है?''

तो, आज संसार में सर्वत्र ऐसे आसुरी भावापन्न लोगों की अधिकता है। इन लोगों के कारण यह वसुन्धरा दुःखप्रद हो गयी है। पारस्परिक द्वेष-कलह, ईर्ष्या-घृणा, दुराग्रह-अत्याचार भौतिकवादी दृष्टिकोण के अंग-प्रत्यंग बन रहे हैं। इन आसुरी प्रवृत्तियों पर रोक लगाने के लिए जैन-धर्म के स्तम्भ-स्वरूप अहिंसा और अनेकान्तवाद के तत्त्वों से महत्त्वपूर्ण सहायता मिल सकती है। जब तक आसुरी प्रवृत्तियों का शमन नहीं होगा, तब तक 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना नहीं पनप सकती। महावीर-वाणी का उत्तराध्ययन सूत्र कहता है -

अज्झत्थं सव्वओ सव्वं, दिस्स पाणे पियायए।
न हणे पाणिणो पाणे, भयवेराओ उबरए॥
समया सव्वभूएसु, सत्तुमितेषु वा जगे।

- अर्थात् ''सभी सुख-दुःखों का मूल अपने हृदय में है, यों मानकर तथा प्राणिमात्र को अपने अपने प्राण प्यारे हैं, ऐसा समझकर भय और वैर से निवृत्त होते हुए किसी भी प्राणी की हिंसा न करना। शत्रु अथवा मित्र, सभी प्राणियों के प्रति समभाव रखना ही अहिंसा कहलाती है।''

श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' अपने 'संस्कृति के चार अध्याय' नामक ग्रन्थ में लिखते हैं - ''वैदिक काल से लेकर महात्मा गाँधी के समय तक दृष्टि दौड़ा जाइए, भारतीय संस्कृति की जो एक विशेषता हमेशा उसके साथ मिलेगी, वह उसकी अहिंसाप्रियता है। वस्तुतः, संस्कृतियों के बीच सात्त्विक समन्वय का काम अहिंसा के बिना चल ही नहीं सकता। **तलवार से हम मनुष्य को पराजित कर सकते हैं, उसे जीत नहीं सकते।** मनुष्य को जीतना, असल में उसके हृदय पर अधिकार पाना है और हृदय की राह समरभूमि की लाल कीच नहीं, सहिष्णुता का शीतल प्रदेश है, उदारता का उज्ज्वल क्षीर-समुद्र है। अनन्त काल से भारत अहिंसा की साधना में लीन रहा है। यह साधना कभी-कभी आत्म-घातिनी भी सिद्ध हुई, किन्तु भारत तब भी अपने परम धर्म से नहीं डिगा, और भारतीय अहिंसा का अर्थ केवल रक्तपात से ही बचना नहीं, वरन् उन सभी बातों से बचना रहा है, जिनसे किसी को भी क्लेश पहुँचता हो। रक्तपात यदि आत्मरक्षा के लिए किया जाय, किसी ऐसे युद्ध में किया जाय जो हम पर जबर्दस्ती थोपा जाता है, तो भारतीय संस्कृति उसे हिंसा नहीं मानती। ऐसे रक्तपात की उपेक्षा करने का उपदेश स्वयं भगवान् कृष्ण ने दिया। किन्तु भारतीय साहित्य में कहीं भी वह पाप क्षम्य नहीं बताया गया, जो कटु वचन कहकर दूसरों को कष्ट पहुँचाने से होता है, जो वाणी में तर्क ही नहीं, आँखों में अंगारे भरकर शास्त्रार्थ करने से होता है; संक्षेप में, जो उस मनुष्य का पाप है, जिसका विश्वास है कि मैं जो कहता हूँ वह ठीक है, बाकी सब गलत है।

''भारत की अहिंसा-साधना जैन धर्म में अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँची और जैन-धर्म में भी अहिंसा का उच्चतम शिखर अनेकान्तवाद या स्याद्वाद हुआ। कितने बड़े थे वे लोग जिन्हें यह दिखलायी पड़ा कि केवल रक्तपात करना, कटु वचन कहना अथवा दूसरों का अनिष्ट सोचना ही हिंसा नहीं है, प्रत्युत जब यह आग्रह कर बैठते हैं कि जो कुछ हम कर रहे हैं वही सत्य है, तब भी हम हिंसा ही करते हैं। इसलिए अनेकान्तवादियों ने यह धर्म निकाला कि **सत्य के पहलू अनेक हैं। जिसे जो पहलू दिखायी देता है, वह उस पहलू की बात कहता है और जो पहलू दूसरों को दिखायी देते हैं, उनकी बातें दूसरे लोग कहते हैं। इसलिए यह कहना हिंसा है कि 'केवल यही ठीक है।'** सच्चा अहिंसक मनुष्य इतना ही कह सकता है कि 'शायद, यह ठीक हो।' क्योंकि सत्य के सभी पक्ष सभी मनुष्यों को एक साथ दिखायी नहीं देते। अनेकान्तवाद नाम, यद्यपि जैनों का दिया हुआ है, किन्तु जिस दृष्टिकोण की ओर यह सिद्धान्त इंगित करता है, वह दृष्टिकोण भारत में आरम्भ से ही विद्यमान था। यदि यह विद्यमान नहीं रहता, तो भारत में इतनी विभिन्न जातियाँ एक मानवता के अंग बनकर एकता की छाया में शान्ति से नहीं जीतीं। ... सहिष्णुता, उदारता, सामासिक संस्कृति, अनेकान्तवाद, स्याद्वाद और अहिंसा, ये एक ही सत्य के अलग-अलग नाम हैं। असल में, यह भारतवर्ष की सबसे बड़ी विलक्षणता का नाम है, जिसके अधीन यह देश हुआ है और जिसे अपनाकर सारा संसार एक हो सकता है। अनेकान्तवादी वह है जो दुराग्रह नहीं करता। अनेकान्तवादी वह है जो दूसरों के मतों को भी आदर से देखना और समझना चाहता है। अनेकान्तवादी वह है, जो अपने पर भी सन्देह करने की निष्पक्षता रखता है। अनेकान्तवादी वह है जो समझौतों को अपमान की वस्तु नहीं मानता।''

बस, ऐसा ही दृष्टिकोण 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की कल्पना को साकार कर सकता है और यह दृष्टिकोण जैन-धर्म की विशिष्ट देन है।

❑❑❑
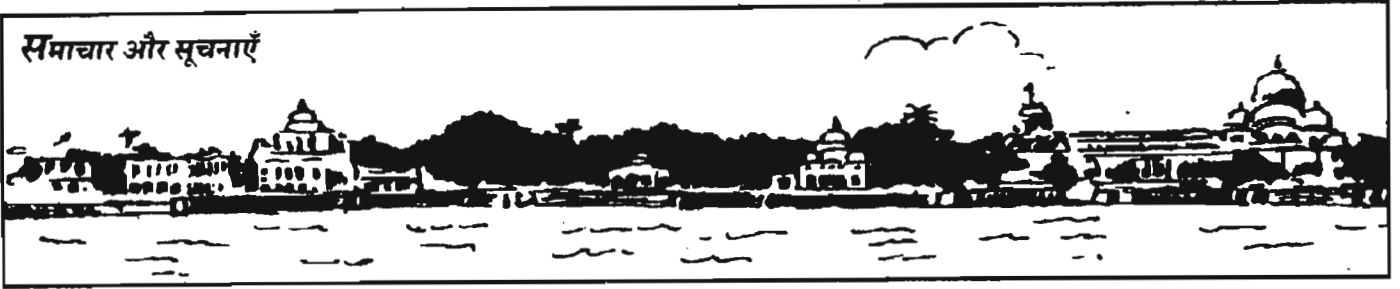
रामकृष्ण मिशन का वार्षिक प्रतिवेदन (२००२-०३)

रामकृष्ण मिशन की ९४ वीं वार्षिक साधारण सभा बेलुर मठ में २१ दिसम्बर २००३ को अपराह्न ३.३० बजे आयोजित हुई।

इस वर्ष की महत्वपूर्ण घटनाओं में बंगलादेश के चटगाँव में एक नये शाखा-केन्द्र का खोला जाना तथा वृन्दावन स्थित सेवाश्रम में प्रसूति-विभाग एवं दन्त-चिकित्सा इकाई, कनखल स्थित सेवाश्रम में सघन चिकित्सा इकाई (इन्टेनसिव केअर युनिट) लखनऊ स्थित विवेकानन्द पॉली-क्लीनिक में बाल-चिकित्सा विभाग और जम्मू शाखा में चल-चिकित्सा इकाई का उद्घाटन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

रामकृष्ण मठ के गतिविधियों में पूना शाखा में एक पॉली-क्लीनिक का उद्घाटन तथा बलराम मन्दिर न्यास, कोलकाता एवं स्वामी ब्रह्मानन्द न्यास, शिकरा-कुलीन-ग्राम का रामकृष्ण मठ के साथ विलय विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

इस वर्ष के दौरान करीब ७.८१ करोड़ रुपये खर्च कर मिशन ने देश के विभिन्न भागों में बृहत पैमाने पर राहत तथा पुनर्वास के कार्य किये, जिससे १७४५ गाँवों के लगभग ३.९८ लाख लोग लाभान्वित हुए। जनवरी २००१ में गुजरात में आये महा-विध्वंसकारी भूकम्प से प्रभावित लोगों की सेवा हेतु शुरू किये गये बृहत्त पुनर्वास परियोजना को मार्च २००३ में पूरा किया गया। इस परियोजना के अन्तर्गत निम्नलिखित कार्य सम्पादित हुए - (क) ३९० आवास-गृहों, ८१ विद्यालयों तथा ५ सभागृहों का निर्माण (ख) अपना गृह स्वयं निर्माण करो - योजना के तहत १९० परिवारों को गृह-सामग्री प्रदान तथा (ग) ७ जलाशयों की खुदाई। गुजरात भूकम्प-राहत एवं पुनर्वास परियोजना में करीब २० करोड़ रुपये खर्च हुए।

निर्धन छात्रों को छात्रवृत्ति तथा वृद्ध, बीमार एवं असहाय लोगों को आर्थिक सहायता आदि कल्याण-कार्यों में २.६७ करोड़ रुपये व्यय हुए।

९ अस्पतालों व भ्राम्यमान चिकित्सा-इकाइयों सहित १११ चिकित्सा-केन्द्रों द्वारा करीब ६२ लाख रोगियों को चिकित्सा-सेवा प्रदान की गयी, जिसके तहत ३१.३६ करोड़ रुपये खर्च हुए।

हमारे शिक्षा-संस्थानों द्वारा, बाल-विहार से स्नातकोत्तर स्तर तक के १.८० लाख विद्यार्थियों को शिक्षा प्रदान की गयी, जिनमें ६६ हजार से भी अधिक छात्राएँ थी। शिक्षाकार्य में ८०.३६ करोड़ रुपये खर्च किये गये।

९.८७ करोड़ रुपये की लागत पर कई ग्रामीण एवं आदिवासी विकास-योजनाओं का भी कार्यान्वयन किया गया।

इस अवसर पर अपने सदस्यों एवं मित्रों के प्रति उनके हार्दिक एवं निरंतर सहयोग का लिए हम आन्तरिक धन्यवाद एवं कृतज्ञता व्यक्त करते हैं।

स्वामी स्मरणानन्द

महासचिव

रामकृष्ण मिशन अस्पताल, ईटानगर, (अरुणाचल प्रदेश)

२८ दिसम्बर, १९७७ ई. को अरुणाचल प्रदेश के तत्कालीन राज्यपाल के. ए. ए. राजा ने ईटानगर के एक पर्वत शिखर पर एक छोटे से भवन की नींव रखकर रामकृष्ण मिशन अस्पताल का श्रीगणेश किया। १९ अक्टूबर, १९७९ ई. को इस चिकित्सालय का उद्घाटन रामकृष्ण संघ के तत्कालीन अध्यक्ष श्रीमत् स्वामी वीरेश्वरानन्द जी महाराज ने किया। उस दिन उन्होंने अपने व्याख्यान में कहा, "इस प्रकार के सेवा-संस्थान की स्थापना इस क्षेत्र के विकास के लिए 'मील का पत्थर' है।" उस समय यहाँ बाहर से आए हुए रोगियों के लिए 'बहिरंग विभाग' तथा एक छोटा-सा चिकित्सीय पुस्तकालय था। आज २५ वर्षों के अन्तराल में यह संस्थान एक विशाल वृक्ष के रूप में परिणत हुआ है। राज्य सरकार द्वारा लम्बे समय के लिए पट्टे पर दी गई करीब २२ एकड़ भूमि पर फैला यह आश्रम स्थानीय समिति द्वारा परिचालित किया जाता है। अरुणाचल प्रदेश सरकार के तीन प्रतिनिधि तथा जनजाति वर्ग के सात व्यक्ति इसके सदस्य हैं।

अस्पताल का पचास प्रतिशत व्ययभार राज्य-सरकार वहन करती है। किसी विशेष योजना हेतु भारत सरकार से भी आर्थिक सहायता प्राप्त होती है। वर्तमान में संस्थान के दो प्रमुख प्रकल्प हैं - शल्य-चिकित्सा हेतु उपकरणों की खरीद और नवीन कर्मचारी-भवन का निर्माण। अस्पताल और पुराने कर्मचारी-भवन की मरम्मत हेतु केन्द्र सरकार से आर्थिक सहायता मिली है।

बहिरंग विभाग के रोगियों के लिए चिकित्सा विभाग : यह विभाग जुलाई १९८० ई में वर्तमान डायग्नोस्टिक ब्लाक के

एक भाग में स्थानान्तरित हुआ, जो अस्पताल का सबसे पहला भवन है। मार्च, १९८२ ई. में अनुसन्धान एवं पंजीकरण समन्वित ओ.पी.डी. कैजुअल्टी ब्लाक (आपातकालीन चिकित्सा ब्लॉक) में यह स्थायी रूप से स्थानान्तरित हो गया।

इस विभाग में है - सामान्य औषधि, शल्यचिकित्सा, स्त्रीरोग व प्रसूति, शिशुरोग, अस्थिरोग और कृत्रिम अंग-प्रतिरोपण केन्द्र, कान-नाक-गला, नेत्ररोग, दन्तचिकित्सा, दिन-रात एम्बुलेंस के साथ आपातकालीन विभाग और गम्भीर रूप से दुर्घटनाग्रस्त रोगियों के लिए सेवा की व्यवस्था। इसके अतिरिक्त एडोस्कोपी, कोलोनोस्कोपी, अल्ट्रा-सोनोग्राफी, ई.सी.जी., पैथोलोजिकल और क्लीनीकल लेबोरेटरी (प्रयोगशाला) एवं रेडियोलोजी आदि विशेष विभाग भी हैं। इन समस्त विभागों में योग्य चिकित्सक और चिकित्सा-कर्मी हैं। प्रतिदिन लगभग ५०० रोगी इलाज के लिए यहाँ आते हैं, जिसमें ९५% पहाड़ी आदिवासी हैं।

अन्तरंग विभाग और आपातकालीन वार्ड - १६ शय्याओं वाला यह विभाग सन् १९८३ में एक भवन में स्थानान्तरित हुआ। सन् १९८९ में पुरुष और महिला वार्डो की शय्या-सख्या बढ़कर १५० हो गई। रोगियों की आपात् रक्त की आवश्यकता होने पर एक ब्लड-बैंक शुरू किया गया है।

१९८० ई. में एक एक्स-रे मशीन से रेडियोलोजी विभाग आरम्भ किया गया था। बाद में एक बड़ी एक्स-रे मशीन स्थापित की गई। सम्प्रति यहाँ चार एक्स-रे मशीने हैं, जिससे अधिक लोगों की चिकित्सा का सुयोग प्राप्त है। फरवरी, १९८९ ई. में एक कम्प्यूटर-चालित अल्ट्रासाउन्ड स्कैनर स्थापित किया गया है। सन् १९८० में रेडियोलोजी विभाग के अन्तर्गत एक ई.सी.जी यूनीट लगाया गया। इसके अलावा अन्तरग विभाग में जी.आई. एंडोस्कोपी और कोलोनोस्कोपी, फिजिकल और अकुपेशनल थेरापी तथा कृत्रिम अग-प्रतिरोपण केन्द्र हैं। सन् १९८६ ई. में अपग रोगियों के अग-सचालन में सहायता के लिए एक कृत्रिम अंग-स्थापन केन्द्र खोला गया है। उससे अस्पताल के रोगियों के अलावा अन्य रोगियों की आवश्यकता की पूर्ति भी की जाती है।

इस अस्पताल के तीन आपरेशन-थियेटरों में दो शीत-ताप नियंत्रित हैं। अभी अस्पताल के आधुनिक यंत्रोपकरणों के साथ लेपरोस्कोप भी जुड़ गया है। यह कोलेसिस्टेक्टोमी, गाल ब्लावडर स्टोन को निकालने के काम में लाया जाता है। रोगियों के बहरेपन की जाँच हेतु आडियोमेट्री यत्र का उपयोग किया जाता है।

अन्धता-नियत्रण हेतु राष्ट्रीय योजना के अन्तर्गत भारत सरकार से २००१ ई. में पाँच अत्याधुनिक यत्र प्राप्त हुए हैं। इसमें याग लेसर तथा ए. स्केन - ये दो यत्र पूरे अरुणाचल प्रदेश में अन्यत्र कहीं भी नहीं हैं। पूरे शरीर का सिटी स्केन करने के लिए एन.ई.सी. (नॉर्थ- ईस्टर्न कौंसिल) से आवेदन किया गया है।

इस अस्पताल का मेडिकल रेकॉर्ड डिपार्टमेंट इसकी एक अन्य विशेषता है। रोगियों के रोगों की तत्काल जाँच व चिकित्सा और भविष्य के उपयोग हेतु चिकित्सा सम्बन्धी सभी तथ्यों को ठीक ढंग से रखा जाता है। अन्तरंग तथा बहिरग विभाग के प्रत्येक रोगी को एक पजीकरण सख्या दी जाती है तथा भविष्य के लिए रोगियों के रेकॉर्ड की ठीक ठीक सूची कम्प्यूटर में रखी जाती है।

प्रशासनिक उपयोग हेतु अस्पताल का चिकित्सीय ग्रन्थालय सप्ताह के सभी कार्य-दिनों में शाम के समय कर्मचारियों के लिए खुला रहता है। चिकित्सा-सम्बन्धी अनेक प्रकार की पत्रिकाएँ भी इस पुस्तकालय में रखी जाती हैं।

१९८५ ई. में अरुणाचल प्रदेश की उपजातीय महिलाओं के प्रशिक्षणार्थ एक नर्सिंग विद्यालय भी आरम्भ किया गया है। इसमें साधारण नर्सिंग तथा धात्री-विद्या का त्रिवर्षीय पाठ्यक्रम है। यह विद्यालय 'असम काउंसिल ऑफ नार्सेस, मिड वाइफ एड हेल्थ विजिटर्स' की शाखा है और 'इंडियन नर्सिंग काउंसिल' द्वारा पंजीकृत तथा अनुमति-प्राप्त है। २२ मार्च, १९८६ को भगवान श्रीरामकृष्ण देव की जन्मतिथि के अवसर पर विद्यालय का प्रथम प्रवेश तथा आलोक उत्सव मनाया गया।

इसके अतिरिक्त अस्पताल के रोगियों तथा कर्मचारियों के लिए गोशाला, मुर्गी-पालन और सब्जी-उद्यान तथा सम्मेलन और सभा के लिए ४०० कुर्सियोंवाला 'विवेकानन्द हॉल' एव संकटग्रस्त रोगियों को दूसरे अस्पताल में स्थानान्तरित करने के लिए अस्पताल के चबूतरे पर एक हेलीपैड का भी निर्माण किया गया है।

अल्प सख्या में रोगियों की सेवा के साथ शुरू किया गया इस अस्पताल का बहुमुखी विकास हुआ है। इसके साथ ही और भी विस्तृत जगह पर एक ओ.पी.डी. की आवश्यकता प्रतीत हो रही है। 'डिपार्टमेन्ट ऑफ प्लानिंग ऑफ नार्थ ईस्टर्न रीजन' के पास एक नवीन ओ.पी.डी. भवन के निर्माणार्थ प्रस्ताव दिया गया है।

भारतवर्ष के उत्तर-पूर्व भाग में अभी भी लोगों ने सभ्यता के प्रकाश को ठीक से नहीं देखा है। वहाँ पहाड़ी गाँवों में अस्वस्थ होने पर पड़ोसी के सामने ही आदिवासी वर्ग के लोग असहाय होकर मृत्यु का ग्रास बन जाते हैं। सम्प्रति मिशन का यह अस्पताल पूरे अरुणाचल प्रदेश में सबसे बड़ा अस्पताल है। आवश्यकता पड़ने पर हेलीकेप्टर से दस-बारह पहाड़ों को पार कर दूर-दराज के गाँवों से रोगियों को लाया जाता है। रोगी स्वस्थ होने पर श्रीरामकृष्ण, श्रीमाँ और स्वामी विवेकानन्द के जीवन और उपदेश से परिचित होता है। इस अनुपम अस्पताल के द्वारा स्वामीजी का सेवा-आदर्श वास्तविक रूप से दृष्टिगोचर होता है। ❖❖❖

रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम

बेला , मुजफ्फरपुर - ८४३११६ (बिहार)
फोन (०६२१) २२७२१२७
E-mail rkmission@sancharnet.in

एक निवेदन

प्रिय मित्र,

उत्तरी बिहार में अब रामकृष्ण मिशन, बेलूड़ मठ का एक और नया केन्द्र हो गया है। २७ जुलाई, २००३ ई. को रामकृष्ण-विवेकानन्द सेवाश्रम, मुजफ्फरपुर का औपचारिक रूप से रामकृष्ण मिशन में विलय हो गया।

७७ वर्ष पुराना यह आश्रम १९२७ ई. में ब्रह्मलीन स्वामी ऋतानन्द जी द्वारा आरम्भ किया गया और स्वामी विवेकानन्द के द्विविध आदर्श - आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च - के आधार पर संन्यासियों द्वारा विकसित तथा संचालित होता रहा। इस आश्रम में नित्यपूजा और उत्सव होते हैं। इसके साथ ही, इस आश्रम में एक एलोपैथी तथा होमियोपैथी चिकिस्तालय, एक २० शय्याओंवाला आँख का अस्पताल और नगर में अन्यत्र दो होमियोपैथिक चिकित्सालय भी चलाये जाते हैं। वर्ष २००२-०३ के दौरान होमियोपैथी विभाग में १,२७,३५८ रोगियों का, एलोपैथी विभाग में १२,०८६ रोगियों का, नेत्र चिकित्सालय के बहिर्विभाग में २४,१६८ रोगियों की चिकित्सा हुई और ४०५ मोतियाबिन्द तथा अन्य ऑपरेशन हुए। यद्यपि शुभाकाक्षी तथा भक्तों के दान से ही सेवाश्रम इन जन-हितकर गतिविधियों को संचालित कर रहा है, तथापि आर्थिक स्थिति में और भी सुधार की आवश्यकता है। यहाँ पर बहुत बड़ी संख्या में गरीब लोग चिकित्सा कराने आते हैं। निर्धनों की सेवा जारी रखने और सेवाश्रम के पुराने भवनों की मरम्मत तथा रख-रखाव के लिए हमें आर्थिक सहायता की आवश्यकता है।

हमारा निवेदन है कि आप मुक्त हस्त से दान देकर हमारी जन-हितकर सेवाओं में सहायक हों। रामकृष्ण मिशन को दिया गया दान भारतीय आयकर अधिनियम १८६० के ८०-जी धारा के अन्तर्गत करमुक्त है।

हमारी तात्कालिक आवश्यकताएँ

१. पुराने भवनों की मरम्मत एवं संरक्षण हेतु - - १० लाख
२. चिकित्सालय के विभिन्न विभागों के लिए दवा तथा उपकरणों हेतु - २० लाख
३. चिकित्सकों/कर्मचारियों के आवास और अतिथि-भवन के निर्माणार्थ - ५० लाख
४. कार्यालय और साधु-निवास के निर्माण हेतु - १३ लाख

सादर,

श्रीरामकृष्ण की सेवा में
स्वामी रघुनाथानन्द
सचिव